

षट पाहुड़ ग्रन्थ

श्रीकुन्दकुन्दस्वामी विरचित

प्रकाशक
बाबू सूरजभान वकील
मन्त्री जैन सिद्धान्त प्रचारक मण्डली देवबन्द सहारनपुर



Printed by Gauri Shanker Lal Manager,
at Chandraprabha Press Benares
Published by Babu Soorajbhan Vakil,
Deoband Saharanpur.

श्रीवीतरागायनमः।

श्री

षट् पाहुड़

श्रीकुन्दकुन्दस्वामी विरचित

प्राकृत ग्रन्थ

जिसको

संस्कृत छाया और हिन्दी अनुवाद कराकर
जैन सिद्धान्त प्रचारक मंडली
देवबन्द ज़िला सहारनपुर

के मंत्री

बाबू सूरज भानु वकील देवबन्द ने
सन् १९१० इसवी में

चन्द्रप्रभा प्रेस बनारस में छपवाया

प्रथम बार १०००] [मूल्य १)

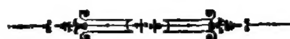
॥ प्रस्तावना ॥



जैन जाति में ऐसा कोई मनुष्य न होगा जो श्रीकुन्दकुन्दस्वामी का पवित्र नाम न जानता हो क्योंकि शास्त्र सभा में प्रथम ही जो मङ्गलाचरण किया जाता है उस में श्रीकुन्दकुन्दस्वामी का नाम अवश्य आता है। श्रीकुन्दकुन्दस्वामी के रचे हुए अनेक पाहुड़ ग्रन्थ हैं जिन में अष्ट पाहुड़ और षट पाहुड़ अधिक प्रसिद्ध हैं क्योंकि उन की भाषा टीका हो चुकी है। इस समय हम षट पाहुड़ ही प्रकाश करते हैं और दो पाहुड़ अलहदा प्रकाश करने का इरादा रखते हैं जो षट पाहुड़ के साथ मिला देने से अष्ट पाहुड़ हो जाते हैं प्राकृत और संस्कृत के एक जैन विद्वान द्वारा प्राकृत गाथाओं की संस्कृत छाया और हिन्दी अनुवाद कराया गया है, अनुवादक महाशय नाम के भूखे नहीं हैं बरण जैन धर्म के प्रकाशित होने के अभिलाषी हैं इस कारण उन्हों ने अपना नाम छपाना जरूरी नहीं समझा है—ऐसे बिद्वान की सहायता के बिदून प्राकृत गाथाओं का शुद्ध होना तो बहुत ही कठिन था क्योंकि मंदिरों में जो ग्रन्थ मिलते हैं उनमें प्राकृत वा संस्कृत मूल श्लोक तो अत्यंत ही अशुद्ध होते हैं—प्राकृत भाषा का अभाव होजाने के कारण संस्कृत छाया का साथ में लगादेना अति लाभकारी समझा गया है-आशा है कि पाठकगण अनुबादक के इस श्रमकी क़दर करैंगे।

सूरजभानु वकील
देवबन्द

षट पाहुड़ ग्रन्थ



श्रीकुन्दकुन्द स्वामी विरचित

दर्शन पाहुड़ [प्राभृत]

काऊण णमुक्कारं जिणवर वसहस्स वड्ढमाणस्स ।
दंसणमग्गं वोच्छामि जहाकम्मं समासेण ॥ १ ॥

कृत्वा नमस्कारं जिनवर वृषभस्य वर्धमानस्य ।
दर्शनमार्गं वक्ष्यामि यथाक्रमं समासेन ॥

अर्थ—श्रीवृषभदेव अर्थात् श्री आदिनाथ स्वामी को और श्रीवर्द्धमान अर्थात् श्रीमहावीर स्वामी को नमस्कार करके दर्शन मार्ग का संक्षेप के साथ यथा क्रम अर्थात् सिलसिलेवार वर्णन करता हूँ ।

दंसणमूलोधम्मो उवइट्ठोजिणवरेहिं सिस्साणं ।
तंसोऊणसकण्णे दंसणहीणो ण वंदिव्वो ॥ २ ॥

दर्शनमूलोधर्मः उपदिष्टोजिनवरैः शिष्याणाम् ।
तं श्रुत्वास्वकर्णे दर्शनहीनो न वन्दितव्यः ॥

अर्थ—श्रीजिनेन्द्रदेव ने शिष्यों को धर्म का मूल दर्शन ही बताया है, अपने कान से इसको अर्थात् जिनेन्द्र के उपदेश को सुन कर मिथ्या दृष्टियां अर्थात् धर्मात्मापने का भेष धरनेवाले मिथ्यात्वी साधु आदिकों को [धर्म भाव से] बन्दना करना योग्य नहीं है ।

दंसणभट्टाभट्टा दंसणभट्टस्सणत्थिणिव्वाणं ।
सिज्झंतिचारियभट्टा दंसणभट्टाणसिज्झंति ॥ ३ ॥

दर्शनभ्रष्टाभ्रष्टाः दर्शनभ्रष्टस्यनास्तिनिर्वाणम् ।
सिद्धन्तिचारित्रभ्रष्टा दर्शनभ्रष्टा न सिद्धन्ति ॥

अर्थ—जो कोई जीव दर्शन अर्थात् श्रद्धान में भ्रष्ट है वह भ्रष्ट ही है, जो दर्शन में भ्रष्ट है उसको मुक्ति नहीं होती है। जो चारित्र में भ्रष्ट हैं वह तो सिद्धि को प्राप्त हो जाते हैं परन्तु जो दर्शन में भ्रष्ट हैं वह सिद्धि को प्राप्त नहीं होते हैं।

सम्मतरयणभट्टा जाणंतावहुविहाइ सत्थाइं ।
आराहणाविरहिया भमन्ति तत्थेव तत्थेव ॥ ४ ॥

सम्यक्तरत्नभ्रष्टा जानन्तोबहुविधानि शास्त्रानि ।
आराधनाविरहिता भ्रमन्ति तत्रैव तत्रैव ॥

अर्थ—बहुत प्रकार के शास्त्र जाननेवाले भी जो सम्यक्त रूपी रत्न से भ्रष्ट हैं वह आराधना अर्थात श्री जिनेन्द्र के वचनों की मान्यता से अथवा दर्शन ज्ञान चारित्र और तप इन चार प्रकार की आराधना से रहित होकर संसार ही में भ्रमते हैं संसार ही भ्रमते हैं।

सम्मत्त विरहियाणं सुच्छु वि उग्गं तव चरंताणं ।
ण लहंति वोहिलाहं अवि वास सहस्सकोडीहिं ॥ ५ ॥

सम्यक्त्व विरहितानाम सुष्टु अपि उग्रंतपः चरताम् ।
न लभन्ते बोधिलाभम् अपिवर्ष सहस्रकोटीभिः ॥

अर्थ—जो पुरुष सम्यक्त रहित हैं वह यदि हज़ार करोड़ वर्ष तक भी अत्यंत भारी तपकरे तो भी बोधिलाभ अर्थात् सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्र रूप अपने असली स्वरूप के लाभ को नहीं प्राप्त कर सक्ते हैं।

सम्मत्तणाण दंसण बल वीरिय वड्ढमाण जे सव्वे ।
कलिकलुसपा विरहिया वर णाणी होंति अइरेण ॥ ६ ॥

सम्यक्त्वज्ञान दर्शन बल वीर्य वर्धमाना ये सर्वे ।
कलिकलुषता विरहिता वर ज्ञानिनो भवन्ति अचिरेण ।

अर्थ— जो पुरुष पञ्चम काल की दुष्टता से बच कर सम्यक्त, ज्ञान, दर्शन, बल, बीर्य में बढ़ते हैं वह थोड़े ही समय में केवल ज्ञानी होते हैं।

सम्मत्त सलिलपवाहो णिचं हियए पवट्टए जस्स।
कम्मं वालुयवरणं वंधुव्विय णासए तस्स ॥ ७ ॥

सम्यक्त्व सलिलप्रवाहः नित्यं हृदये प्रवर्तते यस्य।
कर्म वालुकावरणं बद्धमपि नश्यति तस्य ॥

अर्थ— जिस पुरुष के हृदय में सम्यक्त रूपी जल का प्रवाह निरन्तर बहता है उसको कर्म रूपी बालू (धूल) का आवरण नहीं लगता है और पहला बन्धा हुवा कर्म भी नाश होजाता है।

जं दंसणेसु भट्टा णाणे भट्टा चरित्त भट्टाय।
एदे भट्टविभट्टा सेसंपि जणं विणासंति ॥ ८ ॥

ये दर्शनेषु भ्रष्टाः ज्ञान भ्रष्टा चरित्र भ्रष्टाश्च।
एते भ्रष्टविभ्रष्टाः शेषमपि जनं विनाशयन्ति ॥

अर्थ— जो पुरुष दर्शन में भ्रष्ट हैं, ज्ञान में भ्रष्ट हैं और चारित्र में भ्रष्ट हैं वह भ्रष्टों में भी अधिक भ्रष्ट हैं और अन्य पुरुषों को भी नाश करते हैं अर्थात् भ्रष्ट करते हैं।

जो कोवि धम्मसीलो संजमतव णियम जोयगुणधारी।
तस्सं य दोस कहन्ता भग्गभग्गत्तणं दन्ति ॥ ९ ॥

यः कोपि धर्मशीलः संयमतपो नियम योगगुणाधारी।
तस्य च दोषान् कथयन्तः भग्नाभग्नत्वं ददाति ॥

अर्थ— जो धर्म में अभ्यास करने वाले और संयम, तप, नियम योग, और गुणों के धारी हैं ऐसे पुरुषों को जो कोई दोष लगाता है वह आप भ्रष्ट है और दूसरों को भी भ्रष्टता देता है।

जह मूल म्मिविणट्ठे दुमस्स परिवार णत्थिपरिवट्ठी।
तह जिणदंसणभट्टा मूलविणट्ठा ण सिज्झंति ॥१०॥

यथा मूले विनष्टेद्रुमस्य परिवारस्य नास्तिपरिवृद्धिः ।
तथा जिनदर्शनभ्रष्टाः मूलविनष्टा न सिध्यन्ति ॥

अर्थ—जैसा कि बृक्ष की जड़ कट जाने पर उस बृक्ष की शाखा आदिक नहीं बढ़ती हैं इस ही प्रकार जो कोई जैन मत की श्रद्धा से भ्रष्ट है उस की भी जड़ नाश हो गई है वह सिद्ध पद को प्राप्त नहीं कर सक्ता है।

जह मूलओखन्धो साहा परिवार बहुगुणो होई ।
तह जिणदंसणमूलो णिद्दिट्ठो मोक्खमग्गस्स ॥११॥

यथा मूलातस्कन्धः शाखा परिवार बहुगुणो भवति ।
तथा जिनदर्शनमूलो निर्दिष्टः मोक्षमार्गस्य ॥

अर्थ—जैसे कि बृक्ष की जड़ से शाखा पत्ते फूल आदि बहुत परिवार और गुणवाला स्कन्ध (बृक्ष का तना) होता है इस ही प्रकार मोक्ष मार्ग की जड़ जैनमत का दर्शन ही बताया गया है।

जे दंसणेसुभट्टा पाए पाडन्ति दंसणधराणं ।
ते हुंतिलुल्लमूआ वोहि पुण दुल्लहा तेसिं ॥१२॥

ये दर्शनेषु भ्रष्टा पादेपातयन्ति दर्शन धराणाम् ।
ते भवन्तिलुल्लमूकाः वोधिः पुनर्दुर्लभाः तेषाम् ॥

अर्थ—जो [धर्मात्मा पने का भेष धरने वाले] दर्शन में भ्रष्ट हैं और सम्यक दृष्टि पुरुषों को अपने पैरों में पड़ाते हैं अर्थात् नमस्कार कराते हैं वह लूले और गूंगे होते हैं और उन को बोधि अर्थात् रत्नत्रय की प्राप्ति होना दुर्लभ है।

जेपि पडन्ति च तेसिं जाणन्त लज्जगारव भयेण ।
तेसिंपि णत्थि वोही पावं अणमोअ माणाणं ॥१३॥

येपि पतन्ति च तेषां जानन्तो लज्जागौरव भयेन ।
तेषामपि नास्ति बोधिः पापं अनुमन्य मानानाम् ॥

अर्थ—जो पुरुष जानते हुवे भी (कि यह दर्शन भ्रष्ट मिथ्या भेष धारी साधु है) लज्जा, गौरव, वा भय के कारण उन के पैरों में पड़ते हैं उन को भी बोधि अर्थात् रत्नत्रय की प्राप्ति नहीं हो सक्ती है वह भी पाप का ही अनुमोदना करने वाले हैं।

दुविहंपि गन्थ तायं तिसुविजोएसु संजमो ठादि ।
णाणम्मि करणसुद्धे उब्भसणो दंसणो होइ ॥१४॥

द्विविधमपि ग्रन्थत्यागं त्रिष्वपियोगेषु संयमः तिष्टति ।
ज्ञाने करणशुद्धे उद्भोजने दर्शनं भवति ॥

अर्थ—अंतरंग और वहिरंग दोनों प्रकार के परिग्रह का त्याग हो और तीनों योगों में अर्थात् मन वचन काय में संयमहो और ज्ञान में करण आर्थात् कृत कारित अनुमोदना की शुद्धि हो और खड़े हो कर हाथ में भोजन लिया जाता हो वहां दर्शन होता है ॥

भावार्थ—ऐसा साधु सम्यग्दर्शन की मूर्ति ही है।

सम्मत्तादो णाणं णाणादो सव्व भावउवलद्धी ।
उवलद्ध पयद्धे पुण सेयासेयं वियाणेहि ॥१५॥

सम्यक्त्वतो ज्ञानम ज्ञानातः सर्व भावोपलब्धिः ।
उपलब्धे पदार्थः पुनः श्रेयोऽश्रेयो विजानाति ॥

अर्थ—सम्यग्दर्शन से सम्यग्ज्ञान होता है, सम्यग्ज्ञान से जीवादि समस्त पदार्थों का ज्ञान होता है और पदार्थ ज्ञान से ही श्रेय अश्रेय अर्थात् ग्रहण करने योग्य वा त्यागने योग्य का निश्चय होता है।

सेयासेयविदएह उद्धुद् दुस्सीलसीलवंतोवि ।
सील फलेणब्भुदयं ततो पुण लहइ णिव्वाणं ॥१६॥

श्रेयोऽश्रेयोवेत्ता उदहृत दुश्शीलश्शीलवान ।
शील फलेनाभ्युदयं तत पुनः लभते निर्वाणम् ॥

अर्थ —शुभ अशुभ मार्ग के जानने वालाही कुशीलों को नष्ट

करके शीलवान होता है, और उस शील के फल से अभ्युदय अर्थात् स्वर्गादिक के सुख को पाकर क्रम से निर्वाण को प्राप्त करता है।

जिण वयण ओसहमिणं विसय सुह विरेयणं अमिदभूयं।
जरमरण वाहि हरणं खयकरणं सव्वदुक्खाणं ॥१७॥

जिन वचन मौषधिमिदं विषय सुख विरेचनम मृतभूतम्।
जरामरण व्याधि हरणं क्षयकरणं सर्वदुःखानाम् ॥

अर्थ—यह जिन बचन विषय सुख को अर्थात् इन्द्रियों के विषय भोगों में जो सुख मान रक्खा है उसको दूर करने में औषधि के समान हैं और बुढ़ापे और मरने की व्याधि को दूर करने और सर्व दुखों को क्षय करने में अमृत के समान हैं।

एक्कं जिणस्स रूवं वीयं उकिट्ठ सावयाणंतु।
अवरीट्ठयाण तइयं चउथं पुण लिंग दंसणेणच्छी ॥१८॥

एकं जिनस्य रूपं द्वितीयम् उत्कृष्ट श्रावकानां तु।
अपरस्थितानां तृतीयं चतुर्थं पुनः लिङ्गं दर्शनेनास्ति ॥

अर्थ—जिन मत में तीन ही लिङ्ग अर्थात् वेश होते हैं, पहला जिन स्वरूप नग्न दिगम्बर, दूसरा उत्कृष्ट श्रावकों का, और तीसरा आर्यकाओं का, अन्य कोई चौथा लिङ्ग नहीं है।

छह दव्व णव पयत्था पंचच्छी सत्त तच्चणिदिट्ठा।
सद्दहइ ताण रूवं सो सद्दिट्ठी मुणेयव्वो ॥१९॥

षट द्रव्याणि नव पदार्थाः पञ्चास्ति सप्त तत्वानि निर्दिष्टानि।
श्रद्धाति तेषां रूपं स सद्दृष्टिः ज्ञातव्यः ॥

अर्थ—छह द्रव्य, नवपदार्थ, पञ्चास्तिकाय, और सात तत्व जिनका उपदेश श्री जिनेंद्र ने किया है उनके सरूप का जो श्रद्धान करता है उसको सम्यग्दृष्टि जानना चाहिये।

जीवादी सद्दहण सम्मत्तं जिनवरेहि वण्णत्तं।
ववहारा णिच्छयदो अप्पाणं हवइ सम्मत्तं ॥२०॥

जीवादिश्रद्धनं सम्यक्तं जिनवरैः निर्दिष्टम् ।
व्यवहारात् निश्चयतः आत्मा भवति सम्यक्त्वम् ॥

अर्थ—जीवादि पदार्थों के श्रद्धान करने को जिनेन्द्रदेव ने व्यवहार नय से सम्यग्दर्शन कहा है और निश्चय नय से आत्मा के श्रद्धान को ही सम्यक्त्व कहते हैं।

एवं जिणपण्णत्तं दंसण रयणं धरेहभावेण ।
सारंगुण रयणत्तय सोवाणं पढम मोक्खस्स ॥२१॥

एवं जिनप्रणीतं दर्शनरत्नं धरतभावेन।
सारंगुण रत्नानाम् सोपानं प्रथमं मोक्षस्य ॥

अर्थ—भो सज्जनो उस दर्शन अर्थात् श्रद्धान को धारण करो जो कि जिनेन्द्रदेव का कहा हुआ है, जो गुण रूपी रत्नों का सार है और जो मोक्ष मन्दिर के पढ़ने की पहली सीढ़ी है।

जं सक्कइ तं कीरइजं च ण सक्कइ तं य सद्दहणं ।
केवलिजिणेहि भणियं सद्दहमाणस्स सम्मत्तं ॥२२॥

यत् शक्नोति तत् क्रियते यच्च न शक्नुयात् तस्य च श्रद्धन ।
केवलिजिनैः भणितं श्रद्धानस्य सम्यक्त्वम् ॥

अर्थ—जिसका आचरण कर सकै उसका करै और जिसका आचरण न कर सकै उसका श्रद्धान करै, श्रद्धान करनेवालों को ही सम्यक्त होता है ऐसा केवली भगवान ने कहा है।

भावार्थ—श्रद्धान और आचरण दोनों करने चाहियें, यदि आचरण न हो सकै तो श्रद्धान तो अवश्य ही करना चाहिये।

दंसण णाण चरित्ते तवविणये णिच्च काल सुपसत्था ।
एदे दु वन्दणीया जे गुणवादी गणधरानां ॥२३॥

दर्शन ज्ञान चरित्रे तपोविनये नित्य काल सुप्रस्वस्थाः ।
एते तु वन्दनीया ये गुणवादी गणधराणाम् ॥

अर्थ—दर्शन, ज्ञान, चारित्र, तप, और विनय में जो कोई सदा काल लवलीन हैं और गणधरों का गुणानुवाद करनेवाले हैं वह ही बन्दने योग्य हैं।

सहजुप्पण्णं रूवं दिट्ठं जो मण्णए णमच्छरिऊ ।
सो संजम पडिपण्णो मिच्छा इट्ठी हवइ एसो ॥२४॥

सहजोत्पन्नं रूपं दृष्ट्वा यो मनुते नमत्सरी ।
स संयम प्रतिपन्नः मिथ्या दृष्टि र्भवति असौ ॥

अर्थ—जो पुरुष यथा जात अर्थात् जन्मते हुए बालक के समान नग्न दिगम्बर रूप को देख कर मत्सर भाव से अर्थात् उत्तम कार्यों से द्वेष बुद्धि करके उनको नहीं मानता है अर्थात् दिगम्बर मुनि को नमस्कार नही करता है वह यदि संयमधारी भी है तो भी मिथ्या दृष्टि ही है।

अमराणं वन्दियाणं रूवं दट्ठणसील सहियाण ॥
जो गारवं करन्ति य सम्मत्त विविज्जिया होंति ॥२५॥

अमरैः वन्दितानां रूपं दृष्ट्वाशील सहितानाम् ।
यो गरिमाणं कुर्वन्ति च सम्यक्तं विवर्जिता भवन्ति ॥

अर्थ—देव जिन की बन्दना करते है और जो शील व्रतों को धारण करते हैं, ऐसे दिगम्बर साधुओं के स्वरूप को देखकर जो अभिमान करते हैं अर्थात् शेखी में आकर उन को नमस्कार नहीं करते हैं वह सम्यक्त रहित हैं।

असंजदं ण वंन्द वच्छविहीणोवि सो ण वन्दिज्जो ।
दोण्णिवि होंति समाणा एगोवि ण संजदो होदि ॥२६॥

असंयतं न बन्दे वस्त्रविहीनोऽपि स न वन्द्यः ।
द्वावपि भवतः समानौ एकोऽपि नसंयतो भवति ॥

अर्थ—चरित्र रहित असंयमी बन्दने योग्य नहीं है, और

वस्त्रादि वाह्य परिग्रह रहित भाव चारित्र शून्य भी बन्दने योग्य नहीं है, दोनों समान हैं इन में कोई भी संयमी नहीं है।

भावार्थ—यदि कोई अधर्मी पुरुष नंगा हो जावै तो वह बन्दने योग्य नहीं है और जिस को संयम नहीं है वह तो बन्दने योग्य है ही नहीं।

णवि देहो वंदिज्जइ णविय कुलो णविय जाइ संजुत्तो।
को वंदमि गुणहीणो णहु सवणो णेयसावओ होइ ॥२७॥

नापि देहो वन्द्यते नापिच कुलं नापिच जाति संयुक्तम्।
कंवन्दे गुणहीनम् नैव श्रवणो नैव श्रावको भवति ॥

अर्थ—न देह को बन्दना की जाती है नकुल को न जाति को, गुण हीन में किस को बन्दना करैं, क्योंकि गुण हीन न तो मुनि है और न श्रावक है।

वंदमि तव सामण्णा सीलंच गुणंच बंभ चेरंच।
सिद्धगमणंच तेसिं सम्मत्तेण सुद्ध भावेण ॥२८॥

बन्देतपः समापन्नाम् शीलंच गुणंच ब्रह्मचर्यंच।
सिद्ध गमनंच तेषाम् सम्यक्त्वेन शुद्ध भावेन ॥

अर्थ—मैं उनको रुचि सहित शुद्ध भावों से बन्दना करता हूं जो पूर्ण तप करते हैं, मैं उनके शील को गुण को और उनकी सिद्ध गति को भी बन्दना करता हूं—

चउसट्ठिचमरसहिओ चउतीसहिअइसएहिं संजुत्तो।
अणवार वहु सत्ताहिओ कम्मक्खय कारण णिमित्तो ॥२९॥

चतुः षष्टि चमर सहितः चतुस्त्रिंशदातिशयैः संयुक्तः।
अनवरतवहुसत्वाहितः कर्म्मक्षयकारण निमित्तम् ॥

अर्थ—जो चौसठ ६४ चमरों सहित, चौंतीस ३४ अतिशय संयुक्त निरन्तर बहुत प्राणियों के हितकारी और कर्मों के क्षय होने का कारण है।

भावार्थ—जो तीर्थंकर परम देव हैं उनको मैं बन्दना करता हूं।

णाणेण दंसणेण य तवेण चरियेण संयमगुणेण ।
चउहिंपि समाजोगे मोक्खो जिणसासणेदिट्ठो ॥३०॥

ज्ञानेन दर्शनेन तपसा चारित्रेण संयम गुणेन ।
चतुर्णामपि समायोगे मोक्षः जिनशासने उद्दिष्टः ॥

अर्थ—ज्ञान, दर्शन, तप, और चारित्र इन चारों के इकट्ठा होने पर संयम गुण होता है उसही से मोक्ष होती है, ऐसा जिन शासन में कहा है।

णाणं णरस्ससारं सारोवि णरस्सहोइ सम्मत्तं ।
सम्मत्ताओ चरणं चरणाओ होइ णिव्वाणं ॥३१॥

ज्ञानं नरस्य सारं सारोपि नरस्य भवति सम्यक्त्वम् ।
सम्यक्त्वतः चरणं चरणतो भवति निर्वाणम् ॥

अर्थ—यद्यपि पुरुष के वास्ते ज्ञान सार वस्तु है परन्तु मनुष्य के वास्ते सम्यक्त्व उस से भी अधिक सार है क्योंकि सम्यक्त्व से ही चारित्र होता है और सम्यक् चारित्र से ही मोक्ष प्राप्त होता है।

णाणम्मि दंसणम्मिय तवेण चरिएण सम्म सहिएण ।
चोक्कंपिसमाजोगे सिद्धा जीव ण संदेहो ॥३२॥

ज्ञाने दर्शने च तपसा चारित्रेण सम्यक्त्वहितेन ।
चतुष्कानां समायोगे सिद्धा जीवा न सन्देहः ॥

अर्थ—सम्यक्त्व सहित ज्ञान दर्शन तप और चारित्र इन चारों के संयोग होने पर जीव अवश्य सिद्ध होता है इस में सन्देह नहीं है।

कल्लाण परंपरया लहंति जीवा विशुद्ध सम्मत्तं ।
सम्मद्दंसण रयणं अच्चेदि सुरासुरे लोए ॥३३॥

कल्याण परम्परया लभन्ते जीवा विशुद्ध सम्यक्त्वम् ।
सम्यग्दर्शनरत्नम् अर्च्यते सुरासुरे लोके ॥

अर्थ—गर्भ जन्म तप ज्ञान और निर्वाण इन पांच कल्यानकों की परम्परा के साथ जीव विशुद्ध सम्यक्त्व को प्राप्त करते हैं अर्थात विशुद्ध सम्यक्त होने से ही यह कल्यानक होते हैं।

दट्ठूण य मणुयत्तं सहिय तहा उत्तमेण गोत्तेण।
लद्धूण य सम्मत्तं अक्खय सुक्खं चमोक्खंच ॥३४॥

दृष्ट्वा च मनुजत्वं सहितं तथा उत्तमेन गोत्रेण।
लब्ध्वा च सम्यक्त्वं अक्षय सुखं च मोक्षं च ॥

अर्थ—यह जीव सम्यक्त्व को धारण कर उत्तम गोत्र सहित मनुष्य पर्याय को पाकर अविनाशी सुख वाले मोक्ष को पाता है।

विहरदि जाव जिणंदो सहसट्ठ सुलक्खणेहि संजुत्तो।
चउतीस अइसयजुदो सा पडिमा थावरा भणिया ॥३५॥

विहरति यावज्जिनेन्द्रः सहस्राष्ट लक्षणेः संयुक्तः।
चतुस्त्रिंश दतिशययुतः सा प्रतिमा स्थावरा भणिता ॥

अर्थ—श्री जिनेन्द्र भगवान् एक हज़ार आठ लक्षण संयुक्त औ चौंतीस अतिशय सहित जब तक विहार करते हैं तब तक उनको स्थावर प्रतिमा कहते हैं।

भावार्थ—श्री तीर्थंकर केवल ज्ञान प्राप्त होने के पश्चात धर्मोपदेश देते हुवे आर्य क्षेत्र में विहार करते रहते हैं परन्तु वह शरीर में स्थित होते हैं इस कारण शरीर छोड़ने अर्थात् मुक्ति प्राप्त होने तक उनको स्थावर प्रतिमा कहते हैं।

वारस विह तव जुत्ता कम्मं खविऊण विहवलेणस्स।
वोसट्ट चत्तदेहा णिव्वासा मणुत्तरं पत्ता ॥३६॥

अर्थ—बारह प्रकार का तप धारण करने वाले मुनि चारित्र के बल से अपने समस्त कर्मों को नाश कर और सर्व प्रकार के शरीर छोड़ कर सर्वोत्कृष्ट निर्वाण पद को प्राप्त होते हैं।

२ सूत्र पाहुड़ ।

अरहंत भासियच्छं गणहर देवेहिं गंथियं सम्मं ।
सूत्तच्छ मग्गणच्छं सवणा साहंति परमच्छं ॥ १ ॥

अर्हन्त भाषितार्थं गण धर देवै ग्रंथितं सम्यक् ।
सूत्रार्थ मार्गणार्थं श्रमणा सावध्रुवन्ति परमार्थम् ॥

अर्थ—गणधर देवों ने जिस को गूंथा है अर्थात् रचा है, जिस में अरहन्त भगवान का कहा हुवा अर्थ है और जिस में अरहन्त भाषित अर्थ के ही तलाश करने का प्रयोजन है वह सूत्र है उसही के द्वारा मुनीश्वर परमार्थ अर्थात् मुक्ति का साधन करते हैं ।

सुत्तम्मि जं सुदिट्ठं आइरियं परंपरेण मग्गेण ।
णाऊण दुविह सुत्तं बट्टइ सिव मग्ग जो भव्वो ॥ २ ॥

सूत्रयत् सुदिष्टं आचार्य परम्परीण मार्गेण ।
ज्ञात्वा द्वितीधं सूत्रं वर्तति शिव मार्गयो भव्यः ॥

अर्थ—उन सर्वज्ञ भाषित सूत्रों में जो भले प्रकार वर्णन किया है वह ही आचार्यों की परम्परा रूप मार्ग से प्रवर्तता हुवा चला आरहा है, उसको शब्द और अर्थ द्वारा जान कर जो भव्य जीव मोक्ष मार्ग में प्रवर्तते हैं वह ही मोक्ष के पात्र हैं ।

सुत्तंहि जाण माणो भवस्स भव णासणं च सोकुणदि ।
सूई जहा असुत्ता णासदि सुत्ते सहा णोवि ॥ ३ ॥

सूत्रंहि जानानः भवस्य भव नाशनं च सः करोति ।
सूची यथा असूत्रा नश्यति सूत्रं सह नापि ॥

अर्थ—जो उन सूत्रों के ज्ञाता हैं वह संसार के जन्म मरण का नाश करते हैं, जैसे बिना सूत अर्थात् डोरे की सूई खोई जाती है और तागे सहित होतो नहीं खोई जाती है ॥

भावार्थ—जिनेंद्र भाषित सूत्र का जानने वाला जीव संसार में नष्ट नहीं होता है किन्तु आत्मीक शुद्धी ही करता है ।

पुरुसोवि जो ससुत्तो ण विणासइ सो गओवि संसारे ।
सचेयण पच्चक्खं णासदितं सो अदिस्स माणोवि ॥ ४ ॥

पुरुषोपि यः ससूत्रः न विनश्यति स गतोपि संसारे ।
स चेतना प्रत्यक्षं नाशयति तसः अदृश्यमानोपि ॥

अर्थ—जो पुरुष सूत्र सहित है अर्थात् सूत्रों का ज्ञाता है वह संसार मे फँसा हुवा भी अर्थात ग्रहस्थ में रहता हुवा भी नष्ट नहीं होता है वह अप्रसिद्ध है अर्थात चारो संघ में से किसी संघ में नहीं है तो भी वह आत्मा को प्रत्यक्ष करता हुवा अर्थात आत्म अनुभवन करता हुवा संसार का नाश ही करता है ।

सुत्तत्थं जिण भणियं जीवाजीवादि बहुविहंअत्थं ।
हेयाहेयं चतहा जो जाणइ सोहु सुद्दिट्ठी ॥ ५ ॥

सूत्रार्थं जिनभणितं जीवा जीवादि बहु विधमर्थम् ।
हेयाहेयं चतथा योजानाति सस्फुटं सद्दृष्टिः ॥

अर्थ—जो सूत्र का अर्थ है वह जिनेन्द्र देव का कहा हुवा है । वह अर्थ जीव अजीव आदिक बहुत प्रकार का है उस अर्थ को और हेय अर्थात् त्यागने योग्य और अहेय अर्थात ग्रहण करने योग्य को जो कोई जानता है वह ही सम्यग दृष्टि है ।

जंसूत्तं जिण उत्तं ववहारो तहय परमत्थो ।
तं जाणऊणजोई लहइ सुहं खवइ मल पुंजं ॥ ६ ॥

यत् सूत्रं जिनोक्तं व्यवहारं तथान परमार्थम् ।
तत् ज्ञात्वायोगी लभते सुखं शयति मलपुञ्जम् ॥

अर्थ—जो जिनेन्द्र भाषित सूत्र हैं वह व्यवहार रूप और परमार्थ रूप हैं, उनको जान कर योगीश्वर सुख को पाते हैं और मल पुंज अर्थात कर्मों को क्षय करते हैं ।

सूतत्थ पयविणट्ठो मिथ्यादिट्ठी मुणेयव्वो ।
खेडेविण कायव्वं पाणियपत्तं सचलेस्सं ॥ ७ ॥

सूत्रार्थपद विनष्टो मिथ्या दृष्टिः ज्ञातव्यः ।
खेलेव न कर्तव्यं पाणिपात्रं सचलेस्यं ॥

अर्थ—जो कोई सूत्र के अर्थ और पद से विनष्ट हैं अर्थात उसके विपरीत प्रवर्तते हैं उनको मिथ्या दृष्टि जानना चाहिये, इस कारण वस्त्रधारी मुनि को कौतुक अर्थात हंसी मखौल से भी पाणि पात्र अर्थात् दिगम्बर मुनि के समान हाथ में अहार न देना चाहिये ।

हरि हर तुल्यो विणरो सग्गं गच्छेइ एइ भव कोडी ।
तहविण पावइ सिद्धिं संसारत्थोपुणो भणिदो ॥ ८ ॥

हरि हर तुल्योपिनरः स्वर्गं गच्छति एत्य भव कोटीः ।
तथापि न प्राप्नोति सिद्धिं संसारस्थः पुनः भणितः ॥

अर्थ—हरि (नारायण) हर (रुद्र) के समान पराक्रम वाला भी पुरुष स्वर्ग को प्राप्त हो जाय तो भी तहां ते चय कर कड़ोरों भव लेकर संसार में ही रुलता है वह सिद्धि को नहीं पाता है ऐसा जिन शाशन में कहा है ।

भावार्थ—जिनेन्द्र भाषित सूत्र के अर्थ के जाने बिना चाहे कोई भी हो वह मोक्ष प्राप्त नहीं कर सक्ता है ।

उक्किट्ठ सींह चरियं वहुपरि यम्मोय ग्ररुयर भारोय ।
जोविहरइ सछंदं पावं गच्छेदि होदि मिच्छत्तं ॥ ९ ॥

उत्कृष्टसिंह चारित्रः बहुरि परि कर्म्मो च गुरुतर मारश्च ।
यो विहरति स्वछन्दं पापं गच्छति भवति मिथ्यात्वम् ॥

अर्थ—जो उत्कृष्ट सिंह के समान निर्भय होकर चारित्र पालता है, बहुत प्रकार तपश्चरण करता है और बड़े पदस्थ को धारण किये हुवे है अर्थात् जिसकी बहुत मान्यता होती है परन्तु जिन सूत्र की आज्ञा न मान कर स्वच्छन्द प्रवर्त्तता है वह पापों को और मिथ्यात्व को ही प्राप्त करता है ।

निच्चेल पाणिपत्तं उवइट्ठं परम जिण वरिंदेहिं ।
एकोविमोक्ख मग्गो सेसाय अमग्गया सव्वें ॥ १० ॥

निश्चेल पाणि पात्रम् उपदिष्ट जिनवरेन्द्रै ।
एकोपि मोक्ष मार्गः शेषाश्चमार्गाः सर्वे ॥

अर्थ—वस्त्र को न धारण करना दिगम्बर यथा जात मुद्रा का धारण करना पाणि पात्र भोजन करना अर्थात् हाथ में ही भोजन रखकर लेना यही अद्वितीय मोक्ष मार्ग जिनेन्द्र देव ने कहा है। शेष सर्व ही अमार्ग हैं, मोक्ष मार्ग नहीं हैं।

जो संजमे सुसहिओ आरम्भ परिग्गहेसु विरओवि।
सो होइ वंदणीओ ससुरासुर माणुसे लोए ॥ ११ ॥

यः संयमेषु सहितः आरम्भ परिग्रहेषु विरतः अपि।
स भवति वन्दनीयः ससुरासुर मानुषे लोके ॥

अर्थ—जो संयम सहित है और आरम्भ परिग्रह से विरक्त हैं वह ही इस सुर असुर और मनुष्यों करि भरे हुवे लोक में बन्दनीक अर्थात् पूज्य होता है।

जे वावीस परीसह सहंति सत्तीस एहि संजुत्ता।
ते होंति वंदणीया कम्म क्खय निज्जए साहू ॥ १२ ॥

ये द्वाविंशति परिषहाः सहन्ते शक्ति शतैः संयुक्ताः।
ते भवन्ति वन्दनीयः कर्म्म क्षय निर्जरा साधवः ॥

अर्थ—जो साधु अपनी सैकड़ों शक्तियों सहित बाईस २२ परीषह को सहते हैं वह कर्मों को क्षय करने के अर्थ कर्मों की निर्जरा करते हैं अर्थात् उनके जो कर्मों की निर्जरा होती है उससे आगामी कर्म बन्धन नहीं होता है, वह साधु बन्दना करने योग्य हैं।

अवसे साजे लिंगा दंसणं णाणेण सम्म संजुत्ता।
चेलेण य परिगहिया ते भणिया इच्छणिज्जाय ॥१३॥

अवेशेषा जे लिङ्गिनः दर्शन ज्ञानेन सम्यक्संयुक्ताः।
चेलेन च परिग्रहिता ते भणिता इच्छा (कार) योग्याः ॥

अर्थ -- दिगम्बर मुद्रा के सिवाय अवशेष जो पुरुष दर्शन ज्ञान कर संयुक्त हैं और एक वस्त्र को धारण करने वाले उत्कृष्ट ग्यारवीं प्रतिमा के श्रावक हैं ते इच्छा कार करने योग्य कहे हैं अर्थात् उनको " इच्छामि " ऐसा कहकर नमस्कार करना चाहिये।

इच्छायारमहट्ठं सुताट्ठि ऊ जो हु छंडए कम्मं।
छाणे ट्ठिय समत्तं पर लोयसुहं करो होइ ॥१४॥

इच्छा कार महत्व सूत्र स्थितयः स्फुटं त्यजति कर्म।
स्थाने स्थित्वा समंचति परलोके सुखकरो भवति ॥

अर्थ — जो पुरुष जिन सूत्र में स्थित होता हुआ इच्छाकार के महान अर्थ को जानता है और श्रावकों के स्थान अर्थात् ११ प्रतिमाओं में कहे हुवे आचारों में स्थित होकर सम्यक्त्व सहित होता हुवा वैया वृत्त्य बिना अन्य आरम्भादिक कर्मों को छोड़ता है वह परलोक में स्वर्ग सुखों को प्राप्त करता है अर्थात् उत्कृष्ट श्रावक सोलहवें स्वर्ग में महर्धिक देव होकर वहां मनुष्य पर्याय पाकर निर्ग्रन्थ मुनि हो मोक्ष को पाता है।

अह पुण अप्पाणिच्छदि-धम्माइ करेदि निरव सेसाइ।
तहावि ण पावदि सिद्धिं संसार च्छो पुणो भणिदो॥१५॥

अथ पुनः आत्मानं नेच्छति धर्मान् करोति निर वशेषान।
तथापि न प्राप्नोति सिद्धिं संसारस्थः पुनः भणितः ॥

अर्थ — जो इच्छा कार को नहीं समझता है अथवा जो पुरुष आत्मा को नहीं चाहता है आत्म भावनाओं को नहीं करता है और अन्य समस्त दान पूजादिक धर्म कार्यों को करता है वह सिद्धि को नहीं पाता है वह संसार में ही रहता है ऐसा सिद्धान्त में कहा है।

एयेण कारणेण य तं अप्पा सद्दहेह तिविहेण।
जेण य लहेह मोक्खं तं जाणिज्जह पयतेण ॥१६॥

एतेन कारणेन च तम् आत्मानं श्रद्धत त्रिविधेन।
येन च लभध्वं मोक्षं तं जानीत प्रयत्नेन ॥

अर्थ—इस कारण तुम मन बचन काय से आत्मा का श्रद्धान करो और जिस से मोक्ष प्राप्त होता है उसको यत्न के साथ जानो।

वालग्ग कोडिमत्त परिगह गहणो ण होई साहूणं।
भुंजेइ पाणिपत्ते दिण्ण ण्णं एक्क ठाणम्मि ॥१७॥

वालाग्र कोटिमात्र परिग्रह ग्रहणं न भवति साधूनाम्।
भुञ्जीत पाणिपात्रे दत्तमन्येन एक स्थाने ॥

अर्थ—साधुओं के पास रोम के अग्रभाग प्रमाण अर्थात् बाल की नोक के बराबर भी परिग्रह नहीं होता है, वे एक स्थान ही में, खड़े होकर, अन्य उत्तम श्रावकों कर दिये हुवे भोजन को, अपने हाथ में रख कर आहार करते हैं।

जह जाय रूव सरिसो तिलतुसमित्तं न गहदि हत्थेसु।
जइ लेइ अप्प बहुअं तत्तो पुण जाइ णिग्गोदं ॥१८॥

यथा जात रूपं सदृशः तिलतुषमात्रं नग्रह्णाति हस्तयोः।
यदि लाति अल्प बहुकं ततः पुनः याति निगोदम् ॥

अर्थ—जन्मते बालक के सामान नग्न दिगम्बर रूप धारण करने वाले साधु तिलतुष मात्र अर्थात् तिल के छिलके के बराबर भी परिग्रह को अपने हाथों में नहीं ग्रहण करते हैं। यदि कदाचित थोड़ा वा बहुत परिग्रह ग्रहण करलें तो ऐसा करने से वह निगोद में जाते हैं।

जस्स परिग्गह गहणं अप्पं बहुयं च हवइ लिंगस्स।
सो गरहिओ जिण वयणे परिगहरहिओ निरायारो ॥१९॥

यस्य परिग्रह ग्रहणं अल्प बहुकं च भवति लिङ्गस्य।
स ग्रहणीयः जिन वचने परिग्रह रहितो निरागारः ॥

अर्थ—जिस के मत में जिन लिङ्ग अर्थात् जैन साधु के वास्ते भी थोड़ा या बहुत परिग्रह का ग्रहण कहा है वह मत और उस मत का धारी निंदा के योग्य है जिन बाणी के अनुसार परिग्रह रहित ही निरागार अर्थात् मुनि होते हैं।

पंच महव्वय जुत्तो तिहिगुत्तिहि जो संसजदो होई ।
निग्गंथ मोक्खमग्गो सो होदिहु वेदाणिज्जोय ॥२०॥

पञ्चमहाव्रत युक्तः तिसृभिः गुप्तिभिः यः स संयतः भवति ।
निर्ग्रन्थ मोक्षमार्गः सभवति स्फुटं बन्दनीयः च ॥

अर्थ—जो पंच महाव्रत और तीन गुप्ति (मनोगुप्ति वचनगुप्ति कायगुप्ति) सहित है वह ही संयत अर्थात् संयम धारी है। निर्ग्रन्थ ही मोक्ष मार्ग है, और वह ही बन्दने योग्य है ॥

दुइयं च वुत्त लिङ्गं उक्किट्ठं अवर सावयाणं च ।
भिक्खं भमेय पत्तो समिदी भासेण मोणेण ॥२१॥

द्वितीयं चोक्त लिङ्गम् उत्कृष्टम् अपर श्रावकाणां च ।
भिक्षां भ्रमाति पात्रः समिति भाषया मौनेन ॥

अर्थ—और दूसरा उत्कृष्ट लिङ्ग अपर श्रावकों अर्थात् घर में न रहने वाले श्रावकों का है जो कि घूम कर भिक्षा द्वारा पात्र में वा हस्त में भोजन करते हैं और भाषा समिति सहित और मौन व्रत सहित प्रवर्तते हैं।

भावार्थ—मुनियों से नीचा दर्जा ग्यारहवीं प्रतिमा धारी श्रावक का है।

लिंगं इच्छीण हवादि भुंजइ पिंडं सुएय कालम्मि ।
अज्जियवि एकवच्छा वच्छा वरणेण भुंजेइ ॥२२॥

लिङ्ग स्त्रीणां भवति भुङ्क्ते पिण्ड सुएक काले ।
आर्यिकापि एक वस्त्रा वस्त्रावरणेन भुङ्क्ते ॥

अर्थ—तीसरा लिङ्ग स्त्रियों का अर्थात् आर्यकाओं का है जो कि दिन में एक समय भोजन करती हैं। ये आर्यिका एक वस्त्र सहित होती हैं और वस्त्र पहने हुवे ही भोजन करती हैं।

भावार्थ—भोजन करते समय भी नग्न नहीं होती हैं। स्त्री को कभी भी नग्न दिगम्बर लङ्ग धारण करना योग्य नहीं है।

णवि सिज्झइ वच्छ धरो जिण सासणे जइवि होइतिच्छयरो
णग्गो विमोक्ख मग्गो सेसा उम्मग्गया सव्वे ॥२३॥

नापि सिध्यति वस्त्र धरो जिन शासने यद्यपि भवति तीर्थंकरः ।
नग्नोपि मोक्षमार्गः शेषाः उन्मार्गका सर्वे ॥

अर्थ—जिन शास्त्र में कहा है कि वस्त्र धारी मुक्ति नहीं पाता है चाहे वह तीर्थंकर भी हो अर्थात् जब तक तीर्थंकर भी गृहस्थ अवस्था को त्याग कर दिगम्बर मुद्रा धारण नहीं करेंगे तब तक उनको भी मोक्ष नहीं हो सकती अन्य साधारण पुरुषा की तो क्या कथा, क्योंकि नग्न दिगम्बर ही एक मोक्ष मार्ग है शेष सर्व ही वस्त्र वाले उन्मार्ग अर्थात् उल्टे मार्ग हैं।

लिंगम्मिय इच्छीणं थणं तरेणाहि कक्ख देसम्मि ।
भणिओ सुहमो काओ तासं कह होइ पव्वज्जा ॥२४॥

लिङ्गे स्त्रीणाम् स्तनान्तरे नाभौ कक्षा देशयोः ।
भणितः सूक्ष्म कायः तासां कथं भवति प्रव्रज्या ॥

अर्थ—स्त्रियों की योनि में, स्तन अर्थात् चूचियों के मध्यभाग में नाभि और दोनों कक्षाओं अर्थात् कोखों में सूक्ष्म जीव होते हैं इससे उनको महाव्रत दीक्षा क्योंकर हो सकती है। अर्थात् उनसे सर्व प्रकार हिंसा का त्याग नहीं हो सकता है इस कारण वह महाव्रत नहीं पाल सक्ती हैं और नग्न दिगम्बर मुद्रा नहीं धारण कर सक्ती हैं—

जइ दंसणेण सुद्धा उत्ता मग्गेण सावि संजुत्ता ।
घोरं चरिय चरित्तं इच्छीसुण पावया भणिया ॥२५॥

यदि दर्शनेन शुद्धा उक्ता मार्गेण सापि संयुक्ता ।
घोरं चारित्वा चरित्रं स्त्रीषु न प्रवृज्या भणिता ॥

अर्थ—जो स्त्री सम्यग दर्शन कर शुद्ध है वह भी मोक्ष मार्ग संयुक्त कही हैं, परन्तु तीव्र चारित्र का आचरण करके भी स्त्री अच्युत अर्थात् १६ वें स्वर्ग तक जाती है इससे ऊपर नहीं जा सक्ती है इस हेतु स्त्रियों में मोक्ष प्राप्ति के योग्य दीक्षा नहीं होती है ऐसा कहा है।

भावार्थ—स्त्री को मुक्ति प्राप्त नहीं हो सक्ती है—

चित्ता सोहणतोसिं ढिल्लं भाव तदा सहावेण।
विज्जदि मासा तेसिं इच्छीसुण संकया झाणं ॥२६॥

चित्ताऽऽशोधः न तेसाम् शिथलो भावः तदा स्वभावेन।
विद्यते मास तेसाम् स्त्रीषु न अशंकया ध्यानम् ॥

अर्थ—स्त्रियों के चित्त में शुद्धता नहीं है अर्थात् उनके भाव कुटिल होते हैं और स्वभाव से ही उनके शिथल परिणाम होते हैं तथा उनके प्रतिमास मासिक धर्म (रुधिर श्राव) होता रहता है इसी से स्त्रियों में निःशंक ध्यान नहीं हो सक्ता और जब निश्शङ्क ध्यान ही नहीं तब मोक्ष कैसे हो सकै—

गाहेण अप्पगाहा समुद्द सलिले सचेल अच्छेण।
इच्छा जाहु नियत्ता ताहं णियताइ सव्व दुःखाइ ॥२७॥

ग्राह्येण अल्प ग्राही समुद्र सलिले स्वचेल वस्त्रेण।
इच्छा येभ्यो निवृत्ता ताभ्यः निवृत्तानि सर्वदुःखानि ॥

अर्थ—जैसे कि कोई पुरुष समुद्र में भरे हुवे बहुत जल में से अपना वस्त्र धोने के वास्ते उतनाही जल ग्रहण करे जितना उसके कपड़ा धोने के वास्ते जरूरी हो इसही प्रकार जो मुनि ग्रहण करने योग्य आहार आदिक को भी थोड़ा ही ग्रहण करते हैं अर्थात् आहार आदिक उतनाही ग्रहण करते हैं जितना शरीर की स्थिति के वास्ते जरूरी है और जिन की इच्छा निवृत्त हो गई है उनसे सर्व दुख भी दूर हो गए हैं।

इति सूत्र प्राभृतम्।



३ चारित्र पाहुड़ ।

सव्वण्हु सव्वदंसी णिम्मोहा वीयराय परमेट्ठी ।
वन्दि तु तिजगवन्दा अरहंता भव्व जीवेहिं ॥ १ ॥
णाणं दंसण सम्मं चारित्रं सो हि कारणं ते सिं ।
मुक्खा राहण हेउ चारित्रं पहुडं वोच्छे ॥ २ ॥

सर्वज्ञान् सर्वदर्शिनः निर्मोहान् वीतरागान् परमेष्ठिनः ।
वन्दित्वा त्रिजगद्वन्दितान् अर्हतः भव्यजीवैः ॥
ज्ञानं दर्शन सम्यक् चरित्रं स्वं हि कारणं तेषाम् ।
मोक्षा राधन हेतु चारित्रं प्राभृतं वक्ष्ये ॥

अर्थ—सर्वज्ञ सर्वदर्शी निर्मोही वीतराग परमेष्ठी तीन जगत के प्राणियों का वन्दनीय और भव्य जीवों का मान्य ऐसे अरिहंत देव को वन्दना करके चारित्र पाहुड़ को कहता हूं ॥

कैसा है वह चारित्र ! आत्मीक स्वभाव जो सम्यगदर्शन सम्यगज्ञान और सम्यक् चारित्र उनके प्रकट करने का कारण और मोक्ष के आराधन करने का साक्षात हेतु है ।

जं जाणइ तं णाणं जं पिच्छइ तं च दंसणं भणियं ।
णाणस्स पिच्छयस्स य समवण्णा होइ चारित्तं ॥ ३ ॥

यद् जानाति तद् ज्ञानं यत्पश्यति तच्च दर्शनं भणितं ।
ज्ञानस्य दर्शनस्य च समापन्नात् भवति चरित्रम् ॥

अर्थ—जो जाने सो ज्ञान और जो (सामान्यपने) देखे सो दर्शन ऐसा कहा है ॥ ज्ञान और दर्शन इन दोनों के समायोग होने से चारित्र होता है ।

एए ति एहविभावा हवन्ति जीवस्स अक्खयामेया ।
तिण्णपि सोहणत्थे जिण भणियं दुविह चारित्तं ॥ ४ ॥

एते त्रयोपि भावा भवन्ति जीवस्य अक्षया अमेयाः ।
त्रयाणामपि शोधनार्थं जिन भणितं द्विविध चारित्रम् ॥

अर्थ—ये ज्ञानादिक तीनों भाव अर्थात् दर्शन ज्ञान चारित्र जीव केही भाव हैं और अक्षय और अनन्त हैं अर्थात् यह भाव कभी जीव से अलग नहीं होते हैं और इन भावों का कुछ पार नहीं है। इनही तीनों भावों की शुद्धि के अर्थ दो प्रकार का चारित्र जिनेन्द्र देव ने कहा है।

जिणणाण दिट्ठि सुद्धं पढमं संमत्त चरण चरित्तं।
विदियं संजम चरणं जिण णाण स देसियं तं पि ॥ ५ ॥

जिन ज्ञान दृष्टि शुद्धं प्रथमं सम्यक्त्व चरण चारित्रम्।
द्वितीयं संयम चरणं जिन ज्ञान स देशितं तदपि ॥

अर्थ—जो जिनेन्द्र सम्बन्धी ज्ञान और दर्शन कर शुद्ध हो अर्थात २५ दोष रहित हो सो पहला सम्यकत्व चरण चारित्र है। और जो जिनेन्द्र के ज्ञान द्वारा उपदेश किया गया है और संयम का आचरण जिसमें है वह दूसरा चारित्र है।

भावार्थ—चारित्र दो प्रकार का है, सर्वज्ञ भाषित तत्वार्थ का शुद्ध श्रद्धान करना प्रथम चारित्र है और सर्वज्ञ की आज्ञा के अनुसार संयम अर्थात व्रत आदिक धारण करना दूसरा चारित्र है।

एवं विय णा ऊणय सव्वे मिच्छत्त दोष संकाई।
परिहर सम्मत्तमला जिण भणिया तिविह जोएण ॥६॥

एवं चैव ज्ञात्वा च सर्वान् मिथ्यात्वदोषान् शंकादीन्।
परिहर सम्यक्त्वमलान् जिन भणितान् त्रिविधि योगेन ॥

अर्थ—ऐसा जानकर हे भव्य जनो ! तुम सम्यकत्व को मलिन करने वाले मिथ्यात्व कर्म से उत्पन्न हुवे शङ्कादिक २५ दोषों का मन वचन काय से त्याग करो।

णिसङ्किय णिक्कंखिय णिर्विदगिच्छा अमूढ़ दिट्ठीय।
उवगोहण ठिदिकरणं वच्छलपहावणाय ते अट्ठ ॥ ७ ॥

निशङ्कितं निःकाङ्क्षितं निर्विचिकित्सा अमूढ दृष्टिश्च।
उपगूहनस्थितीकरणं वात्सल्यं प्रभावना च ते अष्टौ ॥

अर्थ—१ निशङ्कित अर्थात जैन तत्वों में शंका न करना २ निःकाङ्क्षित अर्थात इन्द्रिय भोगों की प्राप्ति के लिये वांछा न करना ३ निर्विचिकित्सा अर्थात् व्रती पुरुषों के शरीर से ग्लानि न करना ४ अमूढ दृष्टि अर्थात् मिथ्यामार्ग को देखा देखी उत्तम न समझना ५ उपगूहन अर्थात् व्रती पुरुष यदि अज्ञानता आदिके कारण कोई दोष कर लेवें तो उन दूषणों को प्रकट न करना ६ स्थिती करण अर्थात् रत्न त्रय से डिगते हुवों को फिर धर्म में स्थिर करना ७ वात्सल्य अर्थात् जैन धर्मीयों से स्नेह रखना ८ प्रभावना अर्थात् ज्ञान तप और वैराग्य से जैन धर्म के महत्व को प्रकट करना ये सम्यक्त्व के आठ अङ्ग हैं।

तं चेव गुणविशुद्धं जिण सम्मत्तं सुमुक्खठाणाए।
जं चरइ णाणजुत्तं पढमं सम्मत्त चरणचारित्तं ॥ ८ ॥

तच्चैव गुणविशुद्धं जिन सम्यक्त्वं सुमोक्षस्थानाय।
यच्चरति ज्ञानयुक्तं प्रथमं सम्यक्त्व चरणचारित्रम् ॥

अर्थ—जो कोई निश्शङ्कितादिगुण सहित जिनेन्द्र के श्रद्धान को ज्ञान सहित परम निर्वाण की प्राप्ति के लिये आचारण करता है सो पहला सम्यक्त्व चरण चारित्र है।

भावार्थ—ज्ञानी पुरुष सर्वज्ञ भाषिततत्वार्थ को निशंकादिक आठ अङ्गों सहित श्रद्धान करै तो उसके सम्यक्त्व चरण चारित्र अर्थात पहला चारित्र होता है।

सम्मत चरण सुद्धा संजम चरणस्स जइव सुपसिद्धा।
णाणी अमूढ दिट्ठी अचिरे पावन्ति णिव्वाणं ॥ ९ ॥

सम्यक्त्व चरणशुद्धा संयम चरणस्य यदि वा सुप्रसिद्धा।
ज्ञानिनः अमूढ दृष्टयः अचिरं प्राप्नुवन्ति निर्वाणम् ॥

अर्थ—जो सम्यक्त्व चरण चारित्र में शुद्ध हैं अर्थात जिनका सम्यक्त विशुद्ध है और संयम के आचरण में प्रसिद्ध हैं अर्थात संयम को पूर्ण रूप पालते हैं वे ज्ञानवान पुरुष मूढ़ता रहित होते हुवे थोड़ेही समय में निर्वाण को पाते हैं।

सम्मत चरणं भट्ठा संयम चरणं चरन्ति जेवि णरा ।
अण्णाण णाण मूढा तहविण पावन्ति णिव्वाणं ॥१०॥

सम्यक्त्व चरण भ्रष्टा संयम चरणं चरन्ति येपि नराः ।
अज्ञान ज्ञान मूढा तथापि न प्राप्नुवन्ति निर्वाणम् ॥

अर्थ—जो पुरुष सम्यक्त्व चरण चारित्र से भ्रष्ट हैं अर्थात जिनको सच्चा श्रद्धान नहीं है परन्तु संयम पालते हैं तो भी वे अज्ञानी मूढ़ दृष्टि हैं और निर्वाण को नहीं प्राप्त कर सके हैं।

वच्छल्लं विणयेणय अणुकम्पाए सुदाणदक्षाए ।
मग्गगुण संसणाए अवगूहण रक्खणा ए य ॥ ११ ॥
एए हि लक्खणेहिय लक्खिज्जइ अज्जवेहि भावेहि ।
जीवो आराहन्तो जिण सम्मतं अमोहेण ॥ १२ ॥

वात्सल्यं विनयेन च अनुकम्पया सुदानदक्षया ।
मार्गगुणसंशनया उपगूहन रक्षणेण च ॥
एतैः लक्षणैः च लक्ष्यते आर्जवैः भावैः ।
जीव आराधयन् जिन सम्यक्त्वम् अमोहेन ॥

अर्थ—जो जीव जिनेन्द्र के सम्यक्त्व को मिथ्यात्व रहित आराधन (ग्रहण—सेवन) करता है वह इन लक्षणों से जाना जाय है। वात्सल्य, साधर्मियों से ऐसी प्रीति जैसी गाय अपने बच्चे से करती है, विनय अर्थात ज्ञान चारित्र में बड़े पुरुषों का आदर नम्रता पूर्वक स्वागत करना प्रणाम आदि करना, अनुकम्पा अर्थात दुःखित जीवों पर करुणा परिणाम रखना और उनको यथा योग्य दान देना मार्गगुणशंसा अर्थात मोक्षमार्ग की प्रशंसा करना, उपगूहन अर्थात धार्मिक पुरुषों के दोषों को प्रकट न करना, रक्षण अर्थात धर्म से चिगते हुवों को स्थिर करना, और आर्जव अर्थात निःकपट परिणाम इन लक्षणों से सम्यक्त्व का अस्तित्व जाना जाता है।

उच्छाहभावण सं पसंस सेवा कुदंसणे सद्धा ।
अण्णाण मोह मग्गो कुव्वन्तो जहादि जिणसम्मं ॥ १३ ॥

उत्साह भावना सं प्रशंसा सेवा कुदर्शने श्रद्धा ।
अज्ञानमोहमार्गे कुर्वन् जहाति जिनसम्यक्त्वम् ॥

अर्थ—जो कुदर्शन अर्थात मिथ्यामत और मिथ्यामत के शास्त्रों में जो कि अज्ञान और मिथ्यात्व के मार्ग हैं उत्साह करते हैं, भावना करते हैं, प्रशंसा करते हैं, उपासना (सेवा) करते हैं और श्रद्धा करते हैं, वे जिनेन्द्र के सम्यक्त्व को छोड़ते हैं । अर्थात वे जैन मत धारक नहीं हैं ।

उच्छाह भावणा सं पसंस सेवा सुदंसणे सद्धा ।
ण जहदि जिण सम्मत्तं कुव्वन्तो णाण मग्गेण ॥ १४ ॥

उत्साह भावना सं प्रशंसा सेवा सुदर्शने श्रद्धा ।
न जहाति जिन सम्यक्त्वं कुर्वन् ज्ञान मार्गेण ॥

अर्थ—जो पुरुष ज्ञान द्वारा उत्तम सम्यगदर्शन ज्ञान चरित्र रूप मार्ग में उत्साह करता है, भावना करता है, प्रशंसा करता है, सेवा भक्ति पूजा करता है तथा श्रद्धा करता है वह जिन सम्यक्त्व को नहीं छोड़ता है । अर्थात वह सच्चा जैनी है ।

अण्णानं मिच्छत्तं वज्जह णाणे विसुद्ध सम्मत्ते ।
अह मोहं सारम्भं परिहर धम्मे अहिंसाए ॥ १५ ॥

अज्ञानं मिथ्यात्वं वर्जय ज्ञाने विशुद्ध सम्यक्त्वे ।
अथ मोहं सारम्भं परिहर धर्मे ऽहिंसायाम् ॥

अर्थ—हे भव्यो ? तुम ज्ञान के होते हुवे अज्ञान को और विशुद्ध सम्यक्त्व के होते हुवे मिथ्यात्व को त्यागो तथा चारित्र के होते हुवे मोह को और अहिंसा के होते हुवे आरम्भ को छोड़ो—

पव्वज्ज संग चाय वयट्ट सुतवे सु संजमे भावे ।
होइ सुविसुद्धझाणं णिम्मो हे वीयरायत्ते ॥१६॥

प्रव्रज्यायाम् संगत्यागे प्रवर्तस्व सुतपसि सुसंयमे भावे ।
भवति सुविशुद्धध्यानं निर्मोहे वीतरागत्वे ।

अर्थ—भो भव्यात्मन् ? तुम परिग्रह में त्याग परिणाम कर के जिन दीक्षा में प्रवर्तो और संयम के भावों से उत्तम तपश्चरण में प्रवृत्ति करो जिस से ममतरहित वीतरागता होने पर तुम्हारे विशुद्ध धर्म्म ध्यान और शुक्ल ध्यान हो।

मिच्छा दंसणमग्गे मलिणे अण्णाण मोहदोसेहि।
वज्झंति मूढजीवा मिच्छंता बुद्धि उदएण ॥१७॥

मिथ्यादर्शन मार्गे मलिने ऽज्ञानमोह दोषाभ्याम्।
वर्तन्ते मूढजीवाः मिथ्यात्वा बुद्ध्युदये न ॥

अर्थ—मूढ जीव मिथ्यात्व और अज्ञान के उदय से मिथ्या दर्शन मार्ग में प्रवर्तते हैं; वह मिथ्यादर्शन अज्ञान और मोह के दोषों से मलिन है अर्थात् जिनेन्द्र भाषित धर्म के सिवाय अन्य धर्मों में अज्ञान और मोह का दोष है—

सम्मद्दंसण पस्सदि जाणादि णाणेण दव्वपज्जाया।
सम्मेण सद्दहादि परिहरदि चरित्त जे दोसे ॥१८॥

सम्यग्दर्शनेन पश्यति जानाति ज्ञानेन द्रव्यपर्यायान्।
सम्यक्त्वेन श्रद्दधाति परिहरति चारित्रजान् दोषान् ॥

अर्थ—यह जीव दर्शन से सत्तामात्र वस्तु को जाने है, ज्ञान से द्रव्य और उनकी पर्यायों को जाने है और सम्यक्त्व से श्रद्धान करता है औ चारित्र से उत्पन्न हुवे दोषों को छोड़ता है।

एएतिण्ण त्रिभावा हवंति जीवस्स मोहरहियस्स।
णियगुण आराहंतो अचिरेण विकम्म परिहरई ॥१९॥

एते त्रयोऽपि भावा भवन्ति जीवस्य मोहरहितस्य।
निजगुणम् आराधयन् अचिरेणापि कर्म परिहरति ॥

अर्थ—जो मिथ्यात्व रहित है उस ही जीव के सम्यग दर्शन ज्ञान चारित्र तीनों भाव होते हैं। और वही अपने आत्मीक गुणों को अराधता हुआ थोड़े काल में ही कर्मों का नाश करता है॥

संखिज्ज मसंखिज्जं गुणं च संसारिमेरुमित्ताणं ।
सम्मत्त मणुचरंता करंति दुक्खक्खयं धीरा ॥२०॥

संख्येय म संख्येयं गुणं संसारिमेरु मात्रं णं ।
सम्यत्क्मनुचरन्तः कुर्वन्ति दुखक्षयं धीराः ॥

अर्थ—सम्यक्त्व को पालने वाले धीर पुरुष जब तक संसार रहता है अर्थात् जब तक मुक्ति प्राप्त नहीं होती है तब तक संख्यात गुणी तथा असंख्यात गुणी कर्मों की निर्जरा करते हैं और दुःखों को क्षेय करते हैं।

दुविहं संयम चरणं सायारं तह हवे निरायारं ।
सायारं सग्गंथे परिगह रहिये निरायारं ॥२१॥

द्विविधं संयम चरणं सागारं तथा भवत् निरागारम् ।
सागारं सग्रन्थे परिग्रह रहिते निरागारम् ॥

अर्थ—संयमाचरण चरित्र दो प्रकार है । सागार (श्रावक धर्म) और अनागार (मुनिधर्म) सागार तो परिग्रह सहित ग्रहस्थों के होता है और निरागार, परिग्रहरहित मुनियों के होता है ।

दंसण वय सामाइय पोसह सच्चित्त राय भत्तेय ।
वंभारम्भ परिग्गह अणुमण उद्दिट्ठ विरदोय देशविरदोय २२

दर्शन-व्रत सामायिक-प्रोषध. सचित्तरात्रिभुक्ति त्यागः ।
ब्रह्मचर्यम्-आरम्भ परिग्रहानुमति उद्दिष्टविरतः च देशविरतश्च ॥

अर्थ—श्रावकों के यह ११ चरित्र हैं इनके धारण करने वाले श्रावक भी ११ प्रकार के होते हैं । दर्शन १ व्रत २ सामायिक ३ प्रोषधोपवास ४ सचित्त त्याग ५ रात्रिभुक्ति त्याग ६ ब्रह्मचर्य ७ आरम्भविरति ८ परिग्रहविरति ९ अनुमतिविरति १० उद्दिष्टविरति ११ यह श्रावक की ११ प्रतिमा कहलाती हैं ।

पञ्चेवणुव्वयाइं गुणव्वयाइं हवन्ति तहतिण्णि ।
सिक्खावय चत्तारि सञ्जम चरणं च सायारं ॥२३॥

पञ्चैवाणुव्रतानि गुणव्रतानि भवन्ति तथा त्रीणि ।
शिक्षाव्रतानि चत्वारि संयमचरणं च सागारम् ॥

अर्थ—५ अणुव्रत ३ गुणव्रत और ४ शिक्षाव्रत यह १२ प्रकार का संयमाचरण श्रावकों का है।

थूले तसकाय वहे थूले मोसे अदत्तथूलेय ।
परिहारो परमहिला परिग्गहारंभपरिमाणं ॥२४॥

स्थूलत्रस कायवधे स्थूलमृषा (वादे) अदत्तस्थूले च ।
परिहारः परमहिलायां परिग्रहारम्भ परिमाणम् ॥

अर्थ—त्रसकाय के जीवों के घात का मोटे रूप त्याग यह अहिंसा अणुव्रत है, मृषावाद अर्थात झुठ बोलने का मोटे रूप त्याग यह सत्य अणुव्रत है, २ विनादी हुवी वस्तु के लेने का मोटे रूप त्याग यह अचौर्य अणुव्रत है, परस्त्री का ग्रहण न करना यह शील अणुव्रत है ४ परिग्रह अर्थात धन धन्यादिक और आरम्भ का प्रमाण करना यह परिग्रह परिमाण अणुव्रत है इस प्रकार यह पांच अणुव्रत हैं ।

दिसविदिसमाण पढमं अणत्थडंडस्स वज्जणं विदियं ।
भोगोप भोग परिमा इयमेवगुणव्वया तिण्णि ॥२५॥

दिग्विदिग्मानं प्रथमम्—अनर्थदण्डस्य वर्जनं द्वितीयम् ।
भोगोप भोगपरिमाणम्—इदमेव गुणव्रतानि त्रीणि ॥

अर्थ—दिशा विदिशाओं में जाने आने के लिये मृत्युपर्यन्त के वास्ते प्रमाण करना दिग्व्रत अर्थात पहला गुणव्रत है १ अनर्थदण्डों का अर्थात् पापोपदेश, हिंसादान २ अपध्यान ३ दुःश्रुति ४ प्रमादचर्या का छोडना दूसरा गुणव्रत है और भोग उपभोग की चीजों का प्रमाण करना तीसरा गुणव्रत है यह तीन गुणव्रत हैं ।

सामाइयं च पढमं विदियं च तहेव पोसहं भणियं ।
तइयं अतिहि पुज्जं चउत्थ संलेहणा अन्ते ॥२६॥

सामायिकं च प्रथमं द्वितीयं च तथैव प्रोषधो भणितः ।
तृतीयमतिथि पूज्यः चतुर्थं सल्लेखना अन्ते ॥

अर्थ—सामायिक अर्थात रागद्वेष को त्याग कर ग्रहारम्भ सम्बन्धी सर्व प्रकार की पापक्रिया से निवृत्त होकर एकान्त स्थान में वैठकर अपने आत्मीक स्वरूप का चिंतवन करना, वा पञ्चपरमेष्ठी की भक्ति का पाठ पढ़ना उनकी बन्दना करना यह प्रथम शिक्षाव्रत है प्रोषधोपवास अर्थात अष्टमी चतुर्दशी के दिन चार प्रकार के आहार का छोडना अथवा जलमात्र ही ग्रहण करना वा अन्न को एकवार ग्रहण करना यह उत्तम, मध्यम, जघन्य भेदवाला दूसरा शिक्षाव्रत है अतिथि पूजा अर्थात मुनि या उत्तम श्रावकों को नवधा भक्ति कर आहार देना यह तीसरा शिक्षाव्रत है । अन्त संल्लेखना अर्थात मरण समय समाधि मरण करना यह चौथा शिक्षाव्रत है। इस प्रकार यह चार शिक्षाव्रत हैं।

एवं सावय धम्मं संजम चरणं उदेसियं सयलं ।
सुद्धं संजम चरणं जइ धम्मं निकलं वोच्छे ॥२७॥

एवं श्रावक धर्मम् संयम चरणम् उपदेशितम् ।
शुद्धं संयम चरणं यतिधर्मं निष्कलं वक्ष्ये ॥

अर्थ—इस प्रकार श्रावक धर्म सम्बन्धी संयमाचरण का उपदेश किया अवशुद्ध संयमाचरण का वर्णन करता हूं जोकि यतीश्वरों का धर्म है और पूर्णरूप है । अर्थात जो सकल चारित्र है।

पंचिंदिय संवरणं पंचवया पंचविंश किरियासु ।
पंचसमिदि तियगुत्ति संजम चरणं निरायारं ॥२८॥

पञ्चेन्द्रिय संवरणं पञ्चव्रता पञ्चविंशति क्रियासु ।
पञ्चसमितयः तिस्रोगुप्तयः संयम चरणं निरागारम् ॥

अर्थ—पांचो इन्द्रियों का संबर अर्थात वश करना पांच महाव्रत जोकि पच्चीस क्रियाओं के होते हुए ही होते हैं, पांच समिति और तीन गुप्ति, यह अनागरों का संयमा चरण है अर्थात मुनिधर्म है।

अमणुण्णेय मणुण्णो सजीवदव्वे अजीवदव्वे य ।
न करेय राग दो से पंचिंदिय संवरो भणिओ ॥२९॥

अमनोज्ञे च मनोज्ञे सजीव द्रव्ये अजीवद्रव्ये च ।
न करोति रागद्वेषौ पञ्चेन्द्रिय संवरो भणितः ॥

अर्थ— अमनोज्ञ अर्थात अप्रिय और मनोज्ञ अर्थात प्रिय एसे सजीव पदार्थ स्त्री पुत्रादिक तथा अजीव पदार्थ भोजन वस्त्र भूषण आदिक में रागद्वेष न करना पञ्चेन्द्रिय सम्बर है। अर्थात इन्द्रियों के विषय भोगों में रागद्वेष न करना इन्द्रिय सम्बर है।

हिंसा विरइ अहिंसा असच्च विरइ अदत्त विरई य ।
तुरीयं अबंभविरई पंचम संगम्मि विरई य ॥३०॥

हिंसाविरतिरहिंसा असत्यविरतिरदत्त विरतिश्च ।
तुरीयमब्रह्मविरतिः पञ्चमं सगे विरतिश्च ॥

अर्थ—महाव्रत ५ हैं । अहिंसा महाव्रत अर्थात हिंसा का त्याग १ सत्यमहाव्रत अर्थात असत्य का त्याग २ अचौर्य महाव्रत अर्थात बिना दी हुवी वस्तु का नलेना ३ ब्रह्मचर्य महाव्रत ४ और परिग्रह त्याग महाव्रत ५ ।

साहंति जं महल्ला आयरियं जं महल्ल पुव्वेहिं ।
जं च महल्लाणि तदो महल्लयाइ तहेयाइ ॥३१॥

साधयन्ति यद् महान्तः आचरित यद् महद्भिः पूर्वैः ।
यानि च महान्ति ततः महाव्रतानि ॥

अर्थ— जिन को बड़े पुरुष साधन करते हैं और जिन को पहले महत्पुरुषों ने आचरण किया है और जो स्वयं महान् हैं इससे इनको महाव्रत कहते हैं ।

वयगुत्ति मणगुत्ति इरिया समदि सुदाणणिक्खेवो ।
अवलोय भोयणाएहिंसाए भावणा होंति ॥३२॥

बचोगुप्तिः मनोगुप्तिः ईर्यासमितिः सुदाननिक्षेपः ।
अवलोक्य भोजनं अहिंसाया भावना भवन्ति ॥

अर्थ—वचनगुप्ति १ मनोगुप्ति २ ईर्यासमिति ३ आदान निक्षेपण समिति ४ आलोकित भोजन ५ यह अहिंसा महाव्रत की ५ भावाना हैं।

कोह भयहासलोह मोहा विपरीय भावना चैव।
विदियस्स भावणाए पंचेवय तहा होंति ॥३३॥

क्रोध भय हास्य लोभ मोह विपरीता भावना चैव।
द्वितीयस्य भावना एता पञ्चैव च तथा भवन्ति॥

अर्थ—क्रोध त्याग १ भय त्याग २ हास्य त्याग ३ लोभ त्याग ४ मोह त्याग ५ यह ५ भावना सत्य महाव्रत की हैं।

सूण्णायार निवासो विमोचितावासजं परोधंच।
एषणसुद्धि सउत्तं साहम्मि अंविसंवादे ॥३४॥

शून्यागार निवासो विमोचिता वासः परोधश्च।
एषणशुद्धि सहितं साधर्मा विसंवाद॥

अर्थ—शून्यागार निवास अर्थात शूने मकान में रहना १ विमोचितावास अर्थात छोड़ हुवे मकान मे रहना २ परोपरोधाकरण अर्थात जहां पर दूसरों की रोक टोक हो ऐसे स्थान पर न रहना अथवा औरों को न रोकना ३ एषणा शुद्धि अर्थात शास्त्रानुसार पर घर भोजन करना ४ साधर्माविसंवाद अर्थात साधर्मी पुरुषों से विवाद न करना ५ यह ५ भावना अचौर्य महाव्रत की हैं।

महिला लोयण पूव्वरई सरण संसत्त वसहि विकहादि।
पुट्ठियरसेहि विरउ भावणा पंचवि तुरियम्मि ॥३५॥

महिलालोकन पूर्वरतिस्मरण संशक्तवसति विकथा।
पुष्टरससेवाविरतः भावनाः पञ्चापि तुर्ये॥

अर्थ—राग भावसहित स्त्रियों को न देखना १ पूर्व की हुवी रति अर्थात भोगों की याद न करना २ स्त्रियों के निकट स्थान में निवास न करना ३ स्त्री कथा न करना ४ और पुष्टरस अर्थात कामोद्दीपक वस्तु न सेवन करना ५ यह ५ ब्रह्मचर्य महाव्रत की भावना हैं।

अपरिग्गह समणुण्णे सुसद्दपरिसरस रुवगंधेसु ।
रायदोसाईणं परिहादो भावणा होंति ॥३६॥

अपरिग्रह समनोसेषु शब्द स्पर्श रस रूप गन्धेषु ।
रागद्वेषादीनां परिहारो भावना भवन्ति ॥

अर्थ—शब्द स्पर्श रस रूप गन्ध चाहे मनोज्ञ अर्थात मन भावने हों वा अमनोज्ञ अर्थात अप्रिय हों उनमें रागद्वेष न करना अपरिग्रह महाव्रत की ५ भावना हैं ।

इरि भासा एसण जासा आदाणं चेवणिक्खेवो ।
संजमसोहणिमित्ते खंति जिणा पंच समदीओ ॥३७॥

ईर्य्या भाषा एषणा यासा आदानं चेव निक्षेपः ।
संयमशोध निमित्तं रव्यान्ति जिनाः पञ्च समितयः ॥

अर्थ—इर्यासमिति अर्थात चार हाथ आगे की भूमि को निरखते हुवे चलना १ भाषासमिति अर्थात शास्त्र के अनुसार हित मित प्रिय बचन बोलना २ एषणा समिति अर्थात शास्त्र की आज्ञानुसार दोष रहित आहार लेना ३ आदान समिति अर्थात देखकर पुस्तक कमण्डलु को उठाना ४ निक्षेपण समिति अर्थात देखकर पुस्तक कमण्डलु का रखना ५ यह पांच समिति जिनेन्द्र देवने कही हैं ।

भव्वजण बोहणत्थं जिणमग्गे जिणवरेहिं जह भणियं ।
णाणं णाणसरुपं अप्पाणं तं वियाणेह ॥३८॥

भव्यजनबोधनार्थं जिनमार्गे जिनवरैर्यथा भणितम् ।
ज्ञानं ज्ञानस्वरूपं आत्मानं तं बिजानीहि ॥

अर्थ—जिनेन्द्र देवने जैनशास्त्रों में भव्य जीवों के सम्बोधन के लिये जैसा ज्ञान और ज्ञान का स्वरुप वर्णन किया है तिसी को तुम आत्मा जानो अर्थात यह ही आत्मा का स्वरूप है ।

जीवाजीवविभक्ति जो जाणइ सो हवेइ सण्णाणी ।
रायादि दोस रहिओ जिणसासण मोक्खमग्गुत्ति ॥३९॥

जीवाजीवविभक्तियो जानाति स भवेत् सञ्ज्ञानी ।
रागादिदोषरहितो जिनशासन मोक्षमार्ग इति ॥

अर्थ—जो पुरुष जीव और अजीव के भेद को जानता है वह ही सम्यग् ज्ञानी है और राग द्वेषरहित होना ही जैनशास्त्र में मोक्षमार्ग है ।

दंसण णाण चरित्तं तिण्णिवि जाणेह परम सद्धाए ।
जं जाणिऊण जोई अइरेण लहंति णिव्वाणं ॥४०॥

दर्शनज्ञानचारित्रं त्रिण्यपि जानीहिपरमश्रद्धया ।
यद्ज्ञात्वायोगिनो अचिरेण लभन्ते निर्वाणम् ॥

अर्थ—हे भव्यो ! तुम दर्शन ज्ञान चरित्र इन तीनों को परम श्रद्धा के साथ जानो योगी (मुनी) इन तीनों को जान कर थोड़े ही काल में मोक्ष को पाते हैं ।

पाऊण णाण सलिलं णिम्मल सुबुद्धि भाव संजुत्ता ।
हुंति सिवालयवासी तिहुवण चूड़ामणि सिद्धा ॥४१॥

प्राप्यज्ञानसलिलं निर्मलसुबुद्धिभावसंयुक्ता ।
भवन्तिशिवालयवासिनः त्रिभुवनचूडामणयः सिद्धाः ॥

अर्थ—जो पुरुष जिनेन्द्र कथित ज्ञान रुपीजल को पाकर निर्मल और विशुद्ध भावों सहित होजाते हैं वेही पुरुष तीन भुवन के चूड़ामणि अर्थात तीन जगत में शिरोमणि जो मुक्ति का स्थान अर्थात सिद्धालय है उसमें वसने वाले सिद्ध होते हैं ।

णाणगुणेहिं विहीणा ण लहंते तेसु इच्छियं लाहं ।
इय णाउं गुणदोसं तं सण्णाणं वियाणेहि ॥४२॥

ज्ञानगुणैर्विहीनाः न लभन्ते ते स्विष्टं लाभम् ।
इतिज्ञात्वागुणदोषौ तत् सद्ज्ञानं विजानीहि ॥

अर्थ—ज्ञान गुण से रहित पुरुष उत्तम इष्ट लाभ को नहीं पाते हैं इसलिये गुण और दोष को जानने के लिये उस सम्यग् ज्ञान को जानो ।

चारित्त समारूढो अप्पासुपरंण ईहए णाणी ।
पावइ अइरेण सुहं अणोवमं जाणणिच्छयदो ॥४३॥

चारित्रसमारुढ आत्मसुपरं न ईहते ज्ञानी ।
प्राप्नोतिअचिरेणसुखम् अनुपमं जानीहि निश्चयतः ॥

अर्थ—ज्ञानी पुरुष चारित्र वान् होता हुवा पर वस्तु को अपने में नहीं चाहता है अर्थात अपनी आत्मा से भिन्न किसी वस्तु में राग नहीं करता है इसी से थोड़े ही काल में अनुपम सुख को अवश्य पालेता है एसा जानो ।

एवं संखेवेण य भणियं णाणेण वीयरायेण ।
सम्मत्त संजमासय दुण्हंपि उपदेसियं चरणं ॥४४॥

एवं संक्षेपेण च भणितं ज्ञानेन वीतरागेण ।
सम्यक्त्व संयमाश्रय द्वयमपि उपदेशितं चरणम् ॥

अर्थ—इस प्रकार वीत्तराग केवल ज्ञानी ने दो प्रकार का चारित्र अर्थात उपदेश किया है ? सम्यक्त्वाचरण और संयमाचरण, तिसको संक्षेप के साथ मैंने (कुन्दुकुन्दाचार्यने) वर्णन किया है ।

भावेहभावसुद्धं फुडरइयं चरणपाहुडं चेव ।
लहुचउगइ चइऊणं अचिरेणापुणब्भवाहोह ॥४५॥

भावयत भावशुद्धं स्फुटं रचितं चरणप्राभृतं चैव ।
लघुचतुर्गतीः त्यक्त्वा अचिरणाऽपुनर्भवा भवत ॥

अर्थ—श्रीमत् कुन्दुकुन्द स्वामी कहते हैं इस चारित्र पाहुड़ को मैंने (प्रगट) रचा है तिस को तुम शुद्ध भाव कर भावो (अभ्यास करो) इस से शीघ्र ही चारों गतियों को छोड कर थोड़े ही काल में मोक्षपद के धारण करने वाले हो जावोगे जिस के पीछे और कोई भावही नहीं है अर्थात् जिस को प्राप्त करके फिर जन्म मरण नहीं होता है ।



४ चौथा बोध प्राभृतम् ।

बहुसच्छअच्छजाणे संजमसम्पतसुद्धतवयरणे ।
बन्दिताआयरिए कसायमल वज्जिदेसुद्धे ॥ १ ॥

सयलजणवोहणत्थं जिणमग्गेजिणवरेहिंजहभणियं ।
वुच्छामिसमासेणय छक्कायसुहंकरं सुणसु ॥ २ ॥

बहुशास्त्रार्थज्ञायकान् संयमसम्यक्त्वशुद्धतपश्चरणान् ।
वन्दित्वाऽऽचार्यान् कषायमलवर्जितान् शुद्धान् ॥
सकलजनबोधनार्थं जिनमार्गे जिनवरैर्यथा भणितम् ।
वक्ष्यामिसमासेन च षटकायसुहंकरं शृणु ॥

अर्थ—अनेक शास्त्रों के अर्थों के जानने वाले, संयम और सम्यग दर्शन से शुद्ध हैं तपश्चरण जिनका, कषाय रूपी मल से रहित और शुद्ध ऐसे आचार्य परमेष्ठी की बन्दना (स्तुति) करके बोध पाहुड़ को संक्षेप से वर्णन करता हूँ जैसा कि षटकाय के जीवों को हितकारी जिनेन्द्रदेव ने जैन शास्त्रों में समस्त जनों के बोध के अर्थ वर्णन किया है, तिस को तुम श्रवण करो ।

आयदणं चेदिहरं जिणपडिमा दंसणं च जिणविंवं ।
भणियं सुवीयरायं जिणमुद्दाणाणमादच्छं ॥ ३ ॥

अरहंतेणसुदिट्ठं जंदेवं तिच्छामिहयअरिहन्तं ।
पाविज्जगुणविसुद्धा इयणायव्वाजहाकमसो ॥ ४ ॥

आयतनं चैत्यगृहं जिनप्रतिमादर्शनं च जिनबिम्बम् ।
भणितं सुवीतरागं जिनमुद्रा ज्ञानमात्मस्थम् ॥
अर्हतासुदृष्टंयोदेवः तीर्थमिह च अर्हनन्तम् ।
प्रव्रज्यागुणविशुद्धा इति ज्ञातव्या यथाक्रमशः ॥

अर्थ—इस बोध पाहुड़ में इन ११ स्थलों से वर्णन किया जाता है आयतन १ चैत्यग्रह २ जिन प्रतिमा ३ दर्शन ४ उत्तम वीतरागस्वरूप

जिनबिम्ब ५ जिनमुद्रा ६ आत्मार्थ ज्ञान ७ अर्हन्त देव कथित देव ८ तीर्थ ९ अर्हन्त स्वरूप १० गुणों कर शुद्ध साधू ११ इनका स्वरूप यथा क्रम वर्णन करते हैं तिसको चिन्तवन करो।

मण वयण काय दव्वा आयत्ता जस्स इंन्दिया विसया।
आयदणं जिणमग्गे णिद्दिट्ठं सञ्जयं हवं ॥ ५ ॥

मनो वचन काय द्रव्याणि आयत्ता यस्य ऐन्द्रिया विषयाः।
आयतनं जिनमार्गे निर्दिष्टं सायन्तं रूपम् ॥

अर्थ—मन वचन काय तथा पांचों इन्द्रियों के विषय जिसके आधीन हैं तिस संयमी के रूप (शरीर) को जैनशास्त्र में आयतन कहते हैं। अर्थात जिसने इन्द्रिय मन वचन काय को अपने वश में कर लिया है उस संयमी मुनि का देह आयतन है।

मय राय दोस मोहो कोहो लोहो य जस्स आयत्ता।
पञ्चमहव्वयधारी आयदणंमहरिसी भणियं ॥ ६ ॥

मदो रागो द्वेषो मोहः क्रोधो लोभश्च यस्य आयत्ता।
पञ्चमहाव्रतधरा आयतनं मह ऋषय भणिताः ॥

अर्थ—जिनके मद, राग, द्वेष, मोह, क्रोध, लोभ, और माया नहीं है और पञ्च महाव्रतों के धारक हैं व महर्षि आयतन कहे गये हैं।

सिद्धं जस्स सदच्छं विसुद्धझाणस्स णाण जुत्तस्स।
सिद्धायदणं सिद्धं मुणिवर वसहस्स मुणिदच्छं ॥ ७ ॥

सिद्धं यस्य सदर्थं विशुद्ध ध्यानस्य ज्ञान युक्तस्य।
सिद्धायतनं सिद्धं मुनिवर वृषभस्य ज्ञातार्प्यस्य ॥

अर्थ—जिसका शुद्धात्मा सिद्ध हो गया है जो विशुद्ध (शुक्ल) ध्यानी केवल ज्ञानी और मुनिवरों में प्रधान हैं ऐसे अर्हन्त को सिद्धायतन वर्णन किया गया है।

बुद्धं जम्बोहन्तो अप्पाणं वेइयाइ अण्णं च।
पञ्चमहव्वय सुद्धं णाणमयं जाण चेदिहरं ॥ ८ ॥

बुद्धं यत् बोधयन आत्मानं वेति अन्यं च ।
पञ्चमहाव्रतशुद्धं ज्ञानमयं जानीहि चैत्यग्रहम् ॥

अर्थ—जो ज्ञानस्वरूप शुद्ध आत्मा को जानता हुआ अन्य जीवों को भी जानता है तथा पञ्चमहाव्रतों कर शुद्ध है ऐसे ज्ञानमई मुनि को तुम चैत्यग्रह जानो।

भावार्थ—जिसमें स्वपर का ज्ञाता वसै है वेही चैत्यालय है। ऐसे मुनि को चैत्यग्रह कहते हैं।

चेइय बन्धं मोक्खं दुक्खं सुक्खं च अप्पयं तस्स ।
चेइहरो जिणमग्गे छक्काय हियं करं भणियं ॥ ९ ॥

चैत्यं बन्धं मोक्षं दुःखं सुखं च अर्पयतः ।
चैत्यग्रहं जिनमार्गे षटकाय हितंकरं भणितम् ॥

अर्थ—बन्धमोक्ष, और दुख सुख में पड़े हुवे छैकाय के जीवों का जो हित करनेवाला है उसको जैनशास्त्र में चैत्यग्रह कहा है।

भावार्थ—चैत्य नाम आत्मा का है वह वन्ध मोक्ष तथा इनके फल दुःख सुख को प्राप्त करता है। उसका शरीर जब षट्काय के जीवों का रक्षक होता है तबही उसको चैत्यग्रह (मुनि-तपस्वी-व्रती) कहते हैं।

अथवा चैत्य नाम शुद्धात्मा का है। उपचार से परमौदारिक शरीर सहित को भी चैत्य कहते हैं उस शरीर का स्थान समवसरण तथा उनकी प्रतिमा का स्थान जिन मन्दिर भी चैत्य ग्रह हैं। उसकी जो भक्ति करता है तिसके सातिशय पुन्य वन्ध होता है क्रम से मोक्ष का पात्र बनता है उन चैत्यग्रहों के विद्यमान होते अहिंसादि धर्मका उपदेश होता है इससे वे षट्काय के हितकारी हैं।

सपराजंगमदेहा दंसणणाणेण शुद्धचरणाणं ।
णिग्गन्थवीयराया जिणमग्गे एरिसापडिमा ॥१०॥

स्वपराजङ्गमदेहा दर्शनज्ञानेन शुद्धचरणानाम् ।
निर्ग्रन्थावीतरागा जिनमार्गे इदृशी प्रतिमा ॥

अर्थ—दर्शन और ज्ञान से जिन का चारित्र शुद्ध है ऐसे तीर्थङ्करदेव की प्रतिमा जिन शास्त्रों में ऐसी कही है जो निर्गन्थ हो अर्थात् वस्त्र भूषण जटा मुकुट आयुध रहित हो, तथा वीतराग अर्थात् ध्यानस्थ नासाग्र दृष्टि सहित हो। जैनशास्त्रानुकूल उत्कृष्ट हो और शुद्ध धातु आदि की बनी हुई हो।

जं चरदि सुद्धचरणं जाणइपिच्छेइ सुद्ध सम्मत्तं ।
सा होई वंदणीया णिग्गंथा संजदा पडिमा ॥१२॥

यः चरति शुद्धचरणं जानाति पश्यति शुद्धसम्यक्त्वम् ।
सा भवति वन्दनीया निर्ग्रन्था संयता प्रतिमा ॥

अर्थ—जो शुद्ध चारित्र का आचरण करते हैं, जैन शास्त्र को जानते हैं तथा शुद्ध सम्यक्त्व स्वरूप आत्मा का श्रद्धान करते हैं उन संयमी की जो निग्रन्थ प्रतिमा है अर्थात शरीर वह बन्दनीय है।

भावार्थ—मुनियों का शरीर जंगम प्रतिमा है और धातु पाषाण आदिक से जो प्रतिमा बनाई जाय वह अजङ्गम प्रतिमा है।

दंसण अणंत णाणं अणंत वीरिय अणंतसुक्खाय ।
सासयसुक्ख अदेहा मुक्का कम्मट्ठ बंधेहिं ॥१२॥

णिरुवम मचलमखोहा णिम्मिविया जंगमेणरूवेण ।
सिद्धा ठाणम्मिठिया वोसरपडिमा धुवा सिद्धा ॥१३॥

दर्शन मनन्तज्ञानम् अनन्तवीर्यमनन्तसुखं च ।
शास्वतसुखा अदेहा मुक्ता कर्माष्टबन्धैः ॥
निरुपमा अचला अक्षोभा निर्मापिता जङ्गमेन रूपेण ।
सिद्धस्थानेस्थिता व्युत्सर्गप्रतिमा ध्रुवा सिद्धा ॥

अर्थ—जिन के अनन्त दर्शन अनन्त ज्ञान, अनन्त वीर्य अनन्त सुख विद्यमान है, अविनाशी सुख स्वरूप हैं, देह से रहित हैं, आठ कर्मों से छूट गये हैं संसार में जिनकी कोई उपमा नहीं है, जिनके प्रदेश अचल हैं, जिनके उपयोग में क्षोभ नहीं है, जंगम रूप कर निर्मापित हैं, कर्मों से छूटने के अनन्तर एक समयमात्र ऊर्ध्व

गमन रूप गति से चरमशरीर से किंचिन्म्यून आकार को प्राप्त हुवे हैं, मुक्त स्थान में स्थित हैं, खड्गासन वा पद्मासन अवस्थित हैं।

अर्थात्—जिस आसन से मुक्त हुवे हैं उसी आकार हैं। ऐसी प्रतिमा जो सदा इसही प्रकार ध्रुव रहती है बन्दने योग्य है।

दंसेइ मोक्खमग्गं संमत्तं संयमं सुधम्मं च।
णिग्गंथं णाणमयं जिणमग्गे दंसणं भणियं ॥१४॥

दर्शयति मोक्षमार्गं सम्यक्त्वं संयमं सुधर्मं च।
निर्ग्रन्थं ज्ञानमयं जिनमार्गे दर्शनं भणितम् ॥

अर्थ— निर्ग्रंथ और ज्ञानमई मोक्ष मार्ग को, सम्यक्त्व को, संयम को, आत्मा के निज धर्म को जो दिखाता है उसको जैन शास्त्र में दर्शन कहा है।

जहफुल्लं गंधमयं भवदिहु खीरं सघियमयं चावि।
तह दंसणम्मि सम्मं णाणमयं होइ रूवत्थं ॥ १५॥

यथा पुष्पं गन्धमयं भवति स्फुटं क्षीरं तद्घृतमयं चापि।
तथा दर्शनं सम्यक्त्वं ज्ञानमयं भवति रूपस्थम् ॥

अर्थ— जैसे फूल गन्ध वाला है दूध घृत वाला है तैसे ही दर्शन सम्यक्त्व वाला है। वह सम्यक्त्व अन्तरङ्ग तो ज्ञानमय है और वाह्य सम्यगदृष्टि श्रावक और मुनि के रूप में स्थित है।

जिणबिंबंणाणमयं संजमसुद्धं सुवीयरायं च।
जं देइ दिक्ख सिक्खा कम्मक्खय कारणे सुद्धा ॥१६॥

जिनबिम्बं ज्ञानमयं संयमशुद्धं सुवीतरागं च।
य ददाति दीक्षा शिक्षा कर्मक्षय कारणे शुद्धाः।

अर्थ—जो ज्ञानमय हैं, संयम में शुद्ध हैं अत्यन्त वीतराग हैं, और कर्मों के क्षय करने वाली शुद्ध दीक्षा और शीक्षा देते हैं वह आचार्य परमेष्ठी जिन बिम्ब हैं। अर्थात जिनेन्द्रदेव के प्रतिबिम्ब (सादृश्य) हैं।

तस्सय करहपणामं सव्वं पुज्जंच विणय वच्छल्लं ।
जस्यय दंसणणाणं अत्थि ध्रुवं चेयणाभावो ॥१७॥

तस्य च कुरुत प्रणामं सर्वां पूजां विनय वात्सल्यं ।
यस्य च दर्शनं ज्ञानम्, अस्ति ध्रुवं चेतनाभावः ॥

अर्थ—जिन में दर्शन और ज्ञानमयी चेतन्य भाव निश्चल रूप विद्यमान है उन आचार्यों और उपाध्याय और सर्व साधुओं को प्रणाम करो उनकी सर्व (अष्ट) प्रकार पूजा करो विनय करो और वात्सल्य भाव (वैयावृत्य) करो ।

तववयगुणेहि सुद्धो जाणदि पिच्छेइ सुद्धसम्मत्तं ।
अरहंत मुद्दएसा दायारो दिक्खसिक्खाया ॥१८॥

तपोव्रतगुणैः शुद्धः जानाति पश्यति शुद्धसम्यक्त्वम् ।
अर्हन्मुद्रा एषा दात्री दीक्षाशिक्षायाः ॥

अर्थ—तप और व्रत और गुणों कर शुद्ध हो, यथार्थ वस्तुस्वरूप के जानने वाला हो, शुद्धसम्यग दर्शन के स्वरूप का देखने वाला हो वह आचार्य अर्हन्त मुद्रा है ।

दिढसंजममुद्दाए इंदियमुद्दा कसाय दिढमुद्दा ।
मुद्दा इहणाणाए जिण मुद्दाएरिसा भणिया ॥१९॥

दृढि संयम मुद्राया इन्द्रियमुद्रा कषाय दृढमुद्रा ।
मुद्रा इह ज्ञाने जिनमुद्रा ईदृशी भणिता ॥

अर्थ—दृढ़ अर्थात किसी प्रकार भी चलाया हुवा न चले ऐसे संयम से जिन मुद्रा होती है, द्रव्येन्द्रियों का संकोचना अर्थात कछवे की समान इन्द्रियों को संकोच कर स्वात्मा में स्थापित करना इन्द्रिय मुद्रा है, क्रोधादिक कषायों को दृढ़ता पूर्वक संकोचकरना, कमकरना, नाश करना कषाय मुद्रा है । ज्ञान में अपने को स्थापित करना ज्ञान मुद्रा है ऐसी जिन शास्त्र में जिन मुद्रा कही है ।

संजम संजुत्तस्सयसुझाणजोयस्स मोक्खमग्गस्स ।
णाणेण लहदि लक्खं तम्हा णाणं च णायव्वं ॥ २० ॥

संयम संयुक्तस्य च सुध्यान योगस्य मोक्षमार्गस्य ।
ज्ञानेन लभते लक्ष्यं तस्मात् ज्ञानं च ज्ञातव्यम् ॥

अर्थ—संयम सहित और उत्तम ध्यान युक्त मोक्ष मार्ग का लक्ष्य अर्थात चिन्ह ज्ञान से ही जाना जाता है इस से उस ज्ञान को जानना योग्य है।

जहण विलहदिहुलक्खं रहिओ कंडस्स वेज्जयविहीणो ।
तह ण विलक्खादि लक्खं अण्णाणी मोक्ख मग्गस्स ॥२१॥

यथा न विलक्षयति स्फुटं लक्ष्यं रहितः काण्डस्य वेध्यकविहीनः।
तथा न विलक्षयति लक्ष्यं अज्ञानी मोक्ष मार्गस्य ॥

अर्थ—जैसे कोई पुरुष लक्ष्य विद्या अर्थात निशाने बाज़ी को न जानता हुवा और उसका अभ्यास न करता हुवा बाण अर्थात तीर से निशाने को नहीं पाता है तैसे ही ज्ञान रहित अज्ञानी पुरुष मोक्ष मार्ग के निशाने को अर्थात दर्शन ज्ञान चारित रूप आत्म स्वरूप को नहीं पा सकता है।

णाणं पुरुसस्स हवदि लहदि सुपुरिसो विविणय संजुत्तो ।
णाणेण लहदि लक्खं लक्खंतो मोक्खमग्गस्स ॥२२॥

ज्ञानं पुरुषस्य भवति लभते सुपुरुषोपि विनयसंयुक्तः ।
ज्ञानेन लभते लक्ष्यं लक्ष्ययन मोक्षमार्गस्य ॥

अर्थ—ज्ञान पुरुष में अर्थात आत्मा में ही विद्यमान है परंतु गुरु आदिक की विनय करने वाला भव्य पुरुष ही उसको पाता है, और उस ज्ञान से ही मोक्ष मार्ग का ध्यावताहु मोक्ष मार्ग के लक्ष्य अर्थात निशाने को पाता है।

मइ धणुहं जस्सथिरं सुदगुण वाणं सु अत्थिरयणत्तं ।
परमत्थ बद्धलक्खो णवि चुक्कदि मोक्खमग्गस्स ॥२३॥

मतिर्धनुर्यस्यस्थिरं श्रतगुणं वाणः सुआस्तिरत्नत्रयम् ।
परमार्थ वद्धलक्ष्यः नापि स्खलति मोक्षमार्गस्य ॥

अर्थ—जिस मुनि के पास मति ज्ञान रूपी स्थिर धनुष है जिस पर श्रुत ज्ञान का प्रत्यञ्चा है, रत्नत्रय रूपी उत्तम वाण (तीर) जिस पर चढ़ा हुवा है जिसने परमार्थ को लक्ष्य अर्थात निशाना बनाया हुवा है वह मुनि मोक्ष मार्ग से नहीं चूकता है।

भावार्थ—जो मति ज्ञानी शास्त्रों का अभ्यास करता हुआ रत्न त्रय संयुक्त होकर परमार्थ को खोजता है वह मोक्षमार्ग से नहीं डिगता है।

सो देवो जो अत्थं धम्मं कामं सुदेइ णाणं च ।
सो देइ जस्स अत्थिदु अच्छो धम्मोयपवज्जा ॥२४॥

स देवो योऽर्थं धर्मं कामं सुददाति ज्ञानं च ।
स ददाति यस्य अस्तितु अर्थः धर्मश्च प्रवृज्या ॥

अर्थ—धन धर्म, काम और ज्ञान अर्थात केवल ज्ञान रूपी मोक्ष को जो देवै सोहीदेव है। जिस के पास धन धर्म और प्रवृज्या अर्थात् दीक्षा हो वही दे सक्ता है।

धम्मोदया विसुद्धो पवज्जा सव्व संग परिचत्ता ।
देवोववगयमोहो उदयकरो भव्व जीवाणं ॥२५॥

धर्मो दयाविशुद्धः प्रवृज्या सर्वसंगपरित्यक्ता ।
देवो व्यपगतमोहः उदयकरो भव्यजीवानाम् ॥

अर्थ—जो दया करिके विशुद्ध है वह धर्म है, समस्त परिग्रह से रहित है वह देव है वही भव्य जीवों के उदय को प्रकट करने वाला है।

वय सम्मत्त विसुद्धे पंचेंदिय संजदेणिरावेक्खे ।
णहाएओ मुणितिच्छे दिक्खासिक्खासु णहाणेण ॥२६॥

व्रतसम्यक्त्व विशुद्धे पञ्चेन्द्रियसंयते निरपक्षे ।
स्नातु मुनिः तीर्थे दीक्षाशिक्षासुस्नानेन ॥

अर्थ—व्रत (महाव्रत) और सम्यकत्व में शुद्ध पाञ्च इन्द्रियों के संयम सहित, निरपेक्ष अर्थात् इस लोक और परलोक सम्बन्धी विषय वांछा रहित ऐसे शुद्ध आत्म स्वरूप तीर्थ में दीक्षा रुपी उत्तम स्नान से पवित्र होवो।

जंणिम्मलं सुधम्मं सम्मत्तं संजमं तवं णाणं।
तं तिच्छं जिणमग्गे हवेइ यदि संतभावेण ॥ २७ ॥

य निर्मल सुधर्म सम्यक्त्वं संयम तपः ज्ञानं।
त तीर्थं जिनमार्गे भवति यदि शान्तभावेन ॥

अर्थ—निर्मल उत्तम क्षमादि धर्म, सम्यग्दर्शन, संयम द्वादश प्रकार का तप, सम्यगज्ञान, यह तीर्थ जिन मार्ग में हैं यदि शान्त भाव अर्थात् कषाय रहित भाव से सेवन किये जाँय तो यह जैन धर्म के तीर्थ हैं।

णामट्ठवणेहिंय संदव्वेभावेहि सगुणपज्जाया।
चउणागादि संपदिमं भावा भावंति अरहंतं ॥ २८ ॥

नाम स्थापनायां हि च संद्रव्ये भावे हि सगुणपर्यायाः।
च्यवणागाति संपदइमेभावाः भावयन्ति अर्हन्तम् ॥

अर्थ—नाम, स्थापना, द्रव्य, भाव, इनसे गुणपर्याय सहित अर्हन्त जाने जाते हैं तथा च्यवण अर्थात अवतार लेना आगति अर्थात भरतादिक क्षेत्रों में आना, सम्पत् अर्थात पंचकल्याणकोंका होना यह सब अर्हन्तपने को मालूम कराते हैं।

दंसण अणंत णाणे मोक्खो णट्ठट्ठ कम्मबंधेण।
णिरुवमगुणमारूढो अरहंतो एरिसो होई ॥ २९ ॥

दर्शने अनन्ते ज्ञाने मोक्षोनष्टाष्टकर्मबन्धेन।
निरूपमगुणमरूढः अर्हन् इदृशो भवति ॥

अर्थ—अनन्तदर्शन और अनन्त ज्ञान के विद्यमान होने पर अष्टकर्मों के बन्धका नाश होनेसे मानो मोक्षही हो गये हैं और

उपमारहित अनन्तचतुष्टय आदि गुणोंकर सहित हैं ऐसे अर्हन्त परमेष्टी होते है।

भावार्थ—यद्यपि अर्हन्तदेव के आयु, नाम, गोत्र, और वेदनीय इन चार अघातिया कर्मों का अस्तित्व है तौभी कार्यकारी न होने से नष्टवतही है। १३ में गुणस्थान में प्रकृति वा प्रदेश बंधही होता है स्थिति अनुभागवन्ध नहीं होता है इस कारण बन्ध न होने के ही समान हैं तथा समस्त कर्मों के नायक मोहकर्म के नाश होजाने पर बाकीके कर्म कार्यकारी नहीं हैं इस अपेक्षा अर्हन्त भगवान मोक्षस्वरूपही हैं।

जरवाहिजम्म मरणं चउगइ गमणं च पुण्णपावं च।
हंतूणदोसकम्मे हुउणाणमयं च अरिहंतो॥ ३०॥

जराव्याधि जन्ममरण चतुर्गतिगमनं च पुण्यपापं च।
हत्वा दोषान् कर्माणि भूतः ज्ञानमयः अर्हन्॥

अर्थ—जरा अर्थात बुढापा व्याधि अर्थात रोग, जन्म मरण चतुर्गति गमन तथा पुन्य पाप आदि दोषों को तथा उनके कारण भूत कर्मों को नाश कर जो केवल ज्ञान मय हैं वह अर्हन्त देव हैं।

गुणठाण मग्गणेहिंय पज्जत्तीपाण जीवठाणेहिं।
ठावण पंच विहेहिं पणयव्वा अरहपुरुसस्स॥३१॥

गुणस्थान मार्गणाभिश्च पर्याप्तिप्राण जीवस्थानै.।
स्थापन पञ्चविधै प्रणेतव्या अर्हत्पुरुषस्य॥

अर्थ--१४ गुण स्थान, १४ मार्गणा ६ पर्याप्ति, प्राण, जीव स्थान इन पांच स्थापना से अर्हन्त पुरुष को प्रणाम करो।

तेरहमेंगुणठाणे साजोयकेवलिय होइ अरहंतो।
चउतीस अइसयगुण होंतिहु तस्सट्ठ पडिहारा॥३२॥

त्रयोदशमेगुणस्थाने सयोगकेवलिको भवति अर्हन्।
चतुस्त्रिंशदातिशयगुण भवन्तिहु तस्यप्रातिहार्याणि॥

अर्थ—तेरह में गुण स्थान में संयोग केवली अर्हन्त होते हैं। जिन के ३४ अतिशय रूपी गुण और ८ प्रातिहार्य होते हैं।

गइ इंदियं च काए जोए वेए कषाय णाणेय।
संयम दंसण लेस्सा भविया सम्मत्तसण्णि आहारो ॥३३॥

गतिः इन्द्रियं च कायः योगः वेद कषाय ज्ञान च।
संयम दर्शन लेश्या भव्यत्व सम्यकत्व संज्ञि अहार ॥

अर्थ—गति ४ इन्द्रिय ५ काय ६ योग्य १५ वेद अर्थात् लिङ्ग३ कषाय २५ ज्ञान (कुज्ञान३ सहित) ८ संयम (असंयमादिक सहित) ७ दर्शन ४ लेश्या ६ भव्यत्व (अभव्यत्वसहित) २ संज्ञी (असंज्ञी-सहित) २ आहार (अनाहरकसहित) २ इस प्रकार १४ मार्गणा-स्थान हैं मार्गणा नाम तलाश करने का है, चारों गतियों में से प्रत्येक मार्गणा में मालूम करना चाहिये कि प्रत्येक मार्गणा के भेदों में अर्हत भगवान के कौन भेद होता है जैसे कि गतिमार्गणाके चार भेद हैं उनमें से अर्हतभगवान की मनुष्य गति होती है। इस प्रकार सर्वही मार्गणा में खोज करना।

आहारोय सरीरो इंदियमण आण पाण भासाय।
पज्जत्तगुण समिद्धो उत्तमदेवो हवइ अरिहो ॥३४॥

आहारः च शरीरम् इन्द्रियम् मनः आनप्राणः भाषा च।
पर्याप्तिगुणसमृद्धः उत्तमदेवो भवति अर्हन् ॥

अर्थ—आहार पर्याप्ति १ शरीर पर्याप्ति २ इन्द्रियपर्याप्ति ३ स्वासोच्छ्वास पर्याप्ति ४ भाषा पर्याप्ति ५ मन पर्याप्ति ६ इन सहित अर्हन्त उत्तम देव होते हैं।

भावार्थ—परन्तु जिस प्रकार साधारण मनुष्य आहार लेते हैं इस प्रकार अर्हन्त आहार नहीं लेते हैं बल्कि शरीर में नवीन परमाणुओं का आना जिनको नोकर्म कहते हैं वह ही उन का आहार है।

पंचवि इंदियपाणा मणवयकाएण तिण्णिवलपाणा।
आणप्पाणप्पाणा आउग पाणेण दहपाणा ॥ ३५ ॥

पञ्चापि इन्द्रियप्राणाः मनोवचः कायै त्रयोवलप्राणाः ।
आनप्राणप्राणाः आयुष्कप्राणेण दश प्राणाः ॥

अर्थ—पांच इन्द्रियप्राण मनोबल वचनबल कायबल श्वासोस्वास और आयु यह दश प्राण हैं। तिनमें से भाव अपेक्षा और कायवल वचनबल श्वासोच्छ्वास और आयु यह ४ प्राण अर्हंत के होते हैं और द्रव्य अपेक्षा दसोंही प्राण होते हैं।

मणुयभवेपंचिंदिय जीवट्ठाणेसु होइ चउदसमे ।
एदेगुणगणजुत्तो गुणमारूढो हवइ अरहो ॥ ३६ ॥

मनुजभवे पञ्चेन्द्रिय जीवस्थानेषु भवति चतुर्दशमे ।
एतद्गुणगणयुक्तो गुणमारूढो भवति अर्हन् ॥

अर्थ—मनुष्य भव में पंचेन्द्रिय नामा १४वां जीवसथान में इन गुणों सहित गुणवान अरहंत होते हैं।

भावार्थ—जीवसमास १४ हैं, अर्थात सूक्ष्म एकेन्द्रिय, बादर एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय, तेन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय, पंचेन्द्रिय, असैनी और पंचेन्द्रिय सैनी, इस प्रकार सात हुवे, पर्याप्त और अपर्याप्त इनके दो दो भेद होकर १४ जीवसमास हैं इनमें श्रीअर्हंत पंचेन्द्रिय सैनी पर्याप्त हैं।

जरवाहिदुक्खरहियं आहारणीहार वज्जिय विमल ।
सिंहाणखेलसेओ णत्थि दुगंधा य दोसो य ॥ ३७ ॥

जराव्याधिदुःखरहित. अहारनीहारवर्जितः विमलः ।
सिंहाणः खेलः नास्ति दुर्गन्धश्च दोषश्च ॥

अर्थ—अर्हन्तदेव जरा और व्याधि अर्थात शरीर रोगके दुःखों से रहित, आहार अर्थात भोजन खाना, नीहार अर्थात मलमूत्र करना इनसे वर्जित, निर्मल परमौदारिक शरीरके धारक हैं, जिनके नासिका का मल अर्थात सिणक और थूक खकार नहीं है और उनके शरीर में दुर्गन्ध भी नही है और दोष-अर्थात वात पित्त कफ भी नहीं है।

दसपाणपज्जत्ती अट्ठसहस्सायलक्खणाभणिया ।
गोखीर संखधवलं मांसरुहिरं च सव्वंगे ॥ ३८ ॥

दश प्राणाः पर्याप्तयः अष्टसहस्रं च लक्षणानां भणितम् ।
गोक्षीरसंखधवलं मांसं रुधिरं च सर्वाङ्गे ॥

अर्थ—अर्हन्तदेव के द्रव्य अपेक्षा दश प्राण हैं षटपर्याप्ति हैं आठ अधिक एक हजार १००८ लक्षण हैं और जिनके समस्त शरीर में जो मांस और रुधिर है वह दुग्ध और शंखके समान सुफेद है ।

एरिस गुणेहिं सव्वं अइसयवं तं सुपरिमलामोयं ।
ओरालियं च काओ णायव्वं अरुह पुरुसस्स ॥ ३९ ॥

ईदृशगुणैः सर्व. अतिशयवान् सुपरिमलामोदः ।
औदारिकश्च कायः ज्ञातव्यः अर्हत्पुरुषस्य ॥

अर्थ—एसे गुणोंकर सहित समस्तही देह अतिशयवान और अत्यन्त सुगन्धिकर सुगन्धित है ऐसा परमौदारिक शरीर अर्हन्त पुरुषका जानना ।

मयरायदोसरहिओ कसायमल वज्जओयसुविसुद्धो ।
चित्तपरिणामरहिदो केवलभावेसुणयव्वो ॥ ४० ॥

मदरागदोषरहितः कषायमलवार्जितः सुविशुद्धः ।
चित्तपरिणामरहितः केवलभावे ज्ञातव्यः ॥

अर्थ—केवल ज्ञानरूप एक क्षायिकभावके होने पर अर्हन्तदेव मद राग द्वेष से रहित कषाय और मलसे वर्जित शान्तिमूर्ति और मनके व्यापार से रहित होते हैं ।

सम्मइ दंसण पस्सइ जाणदि णाणेण दव्वपज्जाया ।
सम्मत्तगुणविसुद्धो भावोअरहस्सणायव्वो ॥ ४१ ॥

सम्यग्दर्शनेन पश्यति, जानाति ज्ञानेन द्रव्यपर्यायान् ।
सम्यक्त्वगुण विशुद्धः भावः अर्हतः ज्ञातव्यः ॥

अर्थ—सर्वज्ञ अर्हन्तदेवका भाव (स्वरूप) ऐसा है कि सम्यक्स्वरूप दर्शन (सामान्यावलोकन) कर स्वपर को देखैं हैं और ज्ञानकर समस्त द्रव्य और उनकी पर्यायों को जाने हैं तथा क्षायिक सम्यक्त्व गुणकर सहित हैं।

भावार्थ—अनन्तदर्शन अनन्तज्ञान अनन्तसुख और अनन्त वीर्य यह चार गुणघातिया कर्मोंके नाश से अर्हन्त अवस्था में प्रकट होते हैं।

सुण्णहरे तरुहिट्ठे उज्जाणे तहमसाणवासे वा।
गिरिगुह गिरिसिहरेवा भीमवणे अहव वासते वा ॥४२॥

शून्यग्रहे तरुमूले उद्याने तथा श्मशानवासे वा।
गिरिगुहायां गिरिसिखिरेवा भीमवने अथवा वसतौवा ॥

अर्थ—शून्यग्रह, वृक्ष की जड़, बाग, श्मशान भूमि, पर्वतों की गुफा, पर्वतों के सिखिर, भयानक बन, अथवा वसति का (धर्मशाला) में दीक्षित (व्रतधारी) मुनी निवास करते हैं।

सवसासत्तंतित्थं वच चइदालत्तयं च वुत्तेहिं।
जिणभवणं अहवेज्जे जिणमग्गे जिणवराविंति ॥ ४३ ॥

स्ववशाशक्तं तीर्थं वचश्चैत्यालय त्रयं च।
जिनभवनं अथ वेध्यं जिनमार्गे जिनवरा विन्दन्ति ॥

अर्थ—स्वाधीनमुनिकरआशक्त स्थान में अर्थात ऐसे स्थान में जहां मुनि तप करते हैं और निर्वाणक्षेत्र आदि तीर्थ स्थान में शब्दागम परमागम युक्त्यागम यह तीनों ध्यान करने योग्य हैं तथा जिन मन्दिर (कृत्रिम आकृत्रिम लोकत्रय में स्थित जिनालय) भी ध्यान करने योग्य हैं ऐसा जिन शास्त्रों में जिनेन्द्रदेव कहते हैं।

पंचमहव्वयजुत्ता पंचेंदिय संजया निरावेक्खा।
सज्झायझाणजुत्ता मुणिवरवसहाणि इच्छंति ॥ ४४ ॥

पञ्चमहाव्रतयुक्ता पञ्चेन्द्रियसंयता निरापेक्षा।
स्वाध्यायध्यानयुक्ता मुनिवरवृषभानीच्छन्ति ॥

अर्थ—जो पञ्च महाव्रतधारी, पांचों इंद्रियों को वश करनेवाले वांछारहित और स्वाध्याय तथा ध्यान में लवलीन रहते हैं वह प्रधान मुनिवर ध्येय पदार्थों को विशेषता कर वांछत हैं।

गिह गंथ मोह मुक्का वावीस परीसहा जियकसाया।
पावारंभ विमुक्का पव्वज्जा एरिसा भणिया ॥४५॥

ग्रह ग्रन्थ मोह मुक्ता द्वाविंशति परीषहाजिद् अकषाया।
पापारम्भ विमुक्ता प्रव्रज्या ईदृशी भणिता ॥

अर्थ—ग्रह निवास, वाह्य अभ्यन्तर परिग्रह और ममत्व परिणाम से रहित होना, २२ परीषहाओं का जीतना, कषाय तथा पापकारी आरम्भ से रहित होना ऐसी प्रव्रज्या (मुनिदीक्षा) जिन शासन में कही है।

धणधण्ण वच्छदाणं हिरण्णसयणासणाइछत्ताई।
कुदाणविरहरहिया पव्वज्जा एरिसा भणिया ॥४६॥

धन धान्य वस्त्रदानं हिरण्य शयनासनादि छत्रादि।
कुदान विरहरहिता प्रव्रज्या ईदृशी भणिता ॥

अर्थ—वस्त्र (धोती दुपट्टा आदि) हिरण्य (सिक्का) शयन (खाट पलँग) आसन (कुरसी मूढा आदि) तथा छत्र चमर आदि कुदानों के दान देने से रहित हो।

सत्तमित्तेयसमा पसंसणिंदा अलद्धि लद्धिसमा।
तणकणए समभावा पवज्जा एरिसा भणिया ॥४७॥

शत्रुमित्रे च समा प्रशंसा निन्दायां अलब्धि लब्धौ।
तृण कणके समभावा प्रव्रज्या ईदृशी भणिता ॥

अर्थ—जहां शत्रु मित्र में, प्रशंसा निन्दा में, लाभ अलाभ में, तृण कंचन में, समान भाव (रागद्वेष न होना) है ऐसी प्रव्रज्या जिन शासन में कही है।

उत्तममज्झिमगेहे दारिद्दे ईसरे निरावेक्खा।
सव्वच्छ गिहदिपिंडा पव्वज्जा एरिसा भणिया ॥४८॥

उत्तम मध्यमगेहे दरिद्रे ईश्वरे निरपेक्षा।
सर्वत्र ग्रहीतपिण्डा प्रव्रज्या ईदृशी भणिता ॥

अर्थ—उत्तम मकान (राजमहल) मध्यम मकान (साधारण घर) दरिद्र पुरुष, धनी पुरुष इन में विशेष अपेक्षा रहित अर्थात् यह उत्तम मकान है इसमें भोजन अच्छा मिलेगा यह साधारण घर है यहां भोजन करने से हमारी मान्यता बढ़ेगी यह निर्धन है यहां न जावें यह राजा है यहां जावें इत्यादि विशेष अपेक्षाओं से रहित हो (किंतु) सर्वत्र सुयोग्य सद्गृहस्थों के घरों में आहार ग्रहण किया जावे ऐसी प्रव्रज्या जिन शासन में कही है।

णिग्गंथा णिसंगा णिम्माणासा अराय णिद्दोसा।
णिम्मम णिरहंकारा पव्वज्जा एरिसा भणिया ॥४९॥

निर्ग्रन्था निस्सङ्गा निर्मानाशा अरागा निर्दोषा।
निर्ममा निरहंकारा प्रव्रज्या ईदृशी भणिता ॥

अर्थ—परिग्रह रहित, स्त्री पुत्रादिकों के संग से रहित, मान कषाय तथा आशा (चाह) से रहित, राग रहित दोषरहित, ममकार अहंकार रहित ऐसी प्रव्रज्या गणधर देवों ने कही है।

णिण्णेहा णिल्लोहा, णिम्मोहा णिव्वियारणिक्कलुसा।
णिब्भय निरासभावा पव्वज्जा एरिसा भणिया ॥५०॥

निस्नेहा निर्लोभा निर्मोहा निर्विकारानिःकलुषा।
निर्भया निराशभावा प्रव्रज्या ईदृशी भणिता ॥

अर्थ—जहां पर स्नेह, (राग) लोभ, मोह, विकार, कलुषता, भय और आशा परिणाम नहीं है ऐसी जिन शासन में प्रव्रज्या (दीक्षा) कही है।

जह जाय रुप सरिसा अवलंबिय भुअ निराउहा संता।
परकिय निलय निवासा पव्वज्जा एरिसा भणिया ॥५१॥

यथा जात रूप सदृशा अवलम्बित भुजा निरायुधा शान्ता।
परकृत निलय निवासा प्रव्रज्या ईदृशी भणिता ॥

अर्थ--तत्काल के जन्मे हुवे बालक के समान निर्विकार चेष्टा कायोत्सर्ग वा पद्मासन ध्यान, किसी प्रकार के हथियार का न होना शान्तिता, और दूसरों की बनाई हुई वासतिका (धर्म शाला आदिक) में निवास करना, ऐसी प्रव्रज्या कही है।

उवसम खम दम जुत्ता, सरीर सक्कार वज्जिया रूक्खा ।
मयराय दोस रहिया पव्वज्जा एरिसा भणिया ॥५२॥

उपशम क्षमादम युक्ता शरीर सत्कार वर्जिता रूक्षा ।
मद राग द्वेष रहिता प्रव्रज्या ईदृशी भणिता ॥

अर्थ—जो उपसम, क्षमा, दम अर्थात इन्द्रियों को जीतना इन कर युक्त शरीर के संस्कारो अर्थात स्नानादि से रहित, रुक्ष अर्थात तैलादिक के न लगाने से शरीर में रुखापन, मद, राग द्वेष न होना ऐसी प्रव्रज्या जिनेन्द्र देव ने कही है।

विवरीय मूढ भावा पणट्ठ कम्मट्ठ णट्ठ मिछत्ता ।
सम्मत्त गुण विसुद्धा पव्वज्जा एरिसा भणिया ॥५३॥

विपरीत मूढ भावा प्रणष्ट कर्माष्टा नष्ट मिथ्यात्वा ।
सम्यक्त्व गुण विशुद्धा प्रव्रज्या ईदृशी भणिता ॥

अर्थ—मूढ (अज्ञान) भाव न होना जिससे आठों कर्म नष्ट होते हैं, । मिथ्यात्व का न होना जो सम्यक्त्व गुण से विशुद्ध है ऐसी प्रव्रज्या अर्हन्त भगवान ने कही है।

जिणमग्गे पव्वज्जा छहसंघणये सुभणियणिग्गंथा ।
भावंति भव्व पुरुसा कम्मक्खय कारणे भणिया ॥५४॥

जिनमार्गे प्रव्रज्या षट् संहननेषु भणिता निर्ग्रन्था ।
भावयन्ति भव्य पुरुषा कर्म क्षय कारणे भणिता ॥

अर्थ—वह निर्ग्रन्थ प्रव्रज्या जैन शास्त्र विशेछ हो सहननों में कही है जिसको भव्य पुरुष ही धारण करते हैं जोकि कर्मों के क्षय करने में निमित्त भूत कही है।

भावार्थ—वज्रर्षभ नाराच, वज्रनाराच, नाराच, अर्धनाराच, कीलिक, असंप्राप्तासृपाटिक इनमें से किसी एक संहनन वाले भव्यजीवों के जिनदीक्षा होती है। इससे हे भव्यो इस पञ्चम काल में इसको कर्म क्षय का कारण जान अङ्गीकार करो।

तिल तुस मत्त णिमित्तं समबाहिर गंथ संगहो णत्थि।
पावज्ज हवइ एसा जह भणिया सव्व दरसीहिं ॥५५॥

तिलतुषमात्र निमित्त समं बाह्य ग्रन्थ संग्रहो नास्ति।
प्रव्रज्या भवति एषा यथा भणिता सर्व दर्शिभिः॥

अर्थ—जहां तिल के तुष मात्र (छिलके के बराबर) भी बाह्य परिग्रह नहीं है ऐसी यथा जात प्रव्रज्या सर्वज्ञ देवने कही है।

उपसग्ग परीसह सहा णिज्जणदेसेहि णिच्च अत्थेइ।
सिल कट्ठे भूमि तले सव्वे आरुहइ सव्व त्थ ॥५६॥

उपसर्ग परीषहसहा निर्जन देश नित्यं तिष्ठति।
शिलायां काष्टे भूमि तले सर्वे अरोहयति सर्वत्र॥

अर्थ—उपसर्ग और परीषह समभाव से सही जाती हैं निर्जन शून्य वनादिक शुद्ध स्थानों में निरन्तर निवास करते हैं शिला पर काष्ट पर और भूमि तल में सर्वत्र तिष्ट हैं शयन करते हैं, बैठे हैं। सो प्रव्रज्या है।

पसुमहिलसंढ संगं कुसीलसंगंणकुणइ विकहाओ।
सज्झाण झाणजुत्ता पव्वज्जा एरिसा भणिया ॥५७॥

पशु महिलाषण्ढ संगं कुशील संगं न करोति विकथाः।
स्वाध्यायध्यानयुक्ता प्रव्रज्या ईदृशी भणिता॥

अर्थ—जहां पशु, स्त्री और नपुंसकों का संग (साथ में रहना) और कुशील (व्यभिचारियों के साथ रहने वाले) जनों का संग नहीं करते हैं तथा विकथा (राजकथा स्त्री कथा भोजन कथा चौर कथा) नहीं करते हैं, किंतु स्वाध्याय और ध्यान में लगे हैं ऐसी प्रव्रज्या जिनागम में कही है।

तव वय गुणेहि सुद्धा संजमसम्मत्तगुण विसुद्धाय ।
सुद्धगुणहि सुद्धा पव्वज्जा एरिसा भणिया ॥५८॥

तपोव्रत गुणैः शुद्धा संयम सम्यक्त्वगुण विशुद्धा च ।
शुद्धगुणैः शुद्धो प्रव्रज्या ईदृशी भाणिता ॥

अर्थ—जो १२ तप ५ व्रत और ८४००००० उत्तर गुणों कर शुद्ध हो, संयम (इन्द्रिय संयम प्राणसंयम) और सम्यग्दर्शन कर विशुद्ध हो तथा प्रव्रज्या के जो गुण और कहे थे तिन कर सहित हो ऐसी प्रव्रज्या जिन शासन में कही है।

एवं आयत्तगुण पज्जत्ता बहुविसुद्ध सम्मत्ते ।
णिग्गंथे जिणमग्गे संखे वेण जहा खादं ॥५९॥

एवम् आत्मतत्वगुण-पर्याप्ता बहु विशुद्ध सम्यक्त्वे ।
निर्ग्रन्थे जिनमार्गे संक्षेपेण यथाख्यातम् ॥

अर्थ—अत्यन्त निर्मल है सम्यग्दर्शन जिसमें जिन मार्ग में ऐसी निर्ग्रन्थ अवस्था जो आत्म तत्व की भावना में पूर्ण हो ऐसी प्रव्रज्या है तिसको मैं ने संक्षेप से वर्णन किया है।

रूपत्थं सुद्धत्थं जिणमग्गे जिणवरेहिं जह भणियं ।
भव्वजण बोहणत्थं छक्काय हियंकरं उत्तं ॥६०॥

रूपस्थं शुद्धार्थं जिनमार्गे जिनवरैः यथा भणितम् ।
भव्य जन बोधनार्थं षट्काय हितकरम् उक्तम् ॥

अर्थ—शुद्ध है अर्थ जिसमें ऐसे निर्ग्रन्थ स्वरुप के आचरणों का वर्णन जैसा जिनेन्द्र देवने जिनमार्ग में किया है तैसाही षटकायिक जीवों के लिये हितकारी मार्ग निकट भव्य जनों को संबोधन के लिये मैं ने कहा है।

सद्द वियारो हुओ भासासुत्तेसु जंजिणे कहियं ।
सो तह कहियं णायं सीसेणय भद्दबाहुस्स ॥६१॥

शब्द विकारो भूतः भाषा सूतेषु यत् जिनेन कथितम् ।
तत् तथा कथितं ज्ञातं शिष्येण च भद्रबाहो ॥

अर्थ—शब्दों के विकार से उत्पन्न हुवे (अक्षर रूप परणय) में ऐसे अर्धमागधी भाषा के सूत्रों में जो जिनेन्द्र देवने कहा है सो तैसाही श्री भद्रबहु के शिष्य श्री विसाखाचार्य आदि शिष्य परम्परायने जाना है तथा स्वशिष्यों को कहा है उपदेशा है। वही संक्षेप कर इस ग्रन्थ में कहा गया है।

वारस अंगवियाणं चउदस पूव्वंगविउलविच्छरणं।
सुयणाण भद्दबाहु गमयगुरुभयवउ जयउ ॥६२॥
द्वादशाङ्ग विज्ञानः चतुर्दश पूर्वाङ्ग विपुल विस्तरणः।
श्रुतज्ञानी भद्रवाहुः गमकगुरुः भगवान् जयतु ॥

अर्थ—जो द्वादश अङ्गों के पूर्ण ज्ञाता हैं और चौदह पूर्वाङ्गों का बहुत है विस्तार जिनके गमक (जैसा सूत्र का अर्थ है तैसाही वाक्यार्थ होवे तिस के ज्ञाता) के गुरु (प्रधान) और भगवान् (इन्द्रादिक कर पुज्य) अन्तिम श्रुतज्ञानी ऐसे श्री भद्रवाहु स्वामी जयवन्त होहु उनको हमारा नमस्कार होवो।

पांचवीं पाहुड।

भाव प्राभृतम्।

मङ्गला चारणम्

णमिऊण जिणवरिंदे णरसुर भवणिंद वंदिए सिद्धे।
वोच्छामि भाव पाहुड मवसेसे संजदे सिरसा ॥ १ ॥
नमस्कृत्वा जिनवरेन्द्रान् नरसुर भवनेन्द्रवन्दितान् सिद्धान्।
वक्ष्यामि भावप्राभृतम्–अवशेषान् संयतान् शिरसा ॥

अर्थ— नरेन्द्र सुरेन्द्र और भवनेन्द्र (नागेन्द्र) कर वन्दनीय (पुज्य) ऐसे जिनेन्द्रदेव को सिद्ध परमेष्ठी को तथा आचार्य उपाध्याय और साधु परमेष्ठी को मस्तक नमाय नमस्कार करिके भाव प्राभृत को कहूंगा (कहता हूं)

भावोहि पढमलिंगं ण दव्वलिंगं च जाण परमच्छं ।
भावो कारणभूदो गुण दोसाणं जिणा विंति ॥ २ ॥

भावोहि प्रथमलिङ्गं न द्रव्यलिङ्गं च जानत परमार्थम् ।
भावःकारणभूतः गुणदोषाणां जिना विंदन्ति ॥

अर्थ—जिन दीक्षा का प्रथम चिह्न भाव ही है द्रव्य लिङ्ग को परमार्थ भूत मत जानो क्योंकि गुण और दोषों का कारण भाव (परिणाम) ही है ऐसा जिनेन्द्र देव जानें हैं कहैं हैं।

भाव विसुद्धणिमित्तं वाहिरगंथस्स कीरए चाओ ।
वहिर चाओ विअलो अब्भन्तर गंथ जुत्तस्स ॥ ३ ॥

भाव विशुद्धि निमित्तं वाह्यग्रन्थस्य क्रियते त्यागः ।
वाह्यत्यागो विफलः अभ्यन्तर ग्रन्थ युक्तस्य ॥

अर्थ—आत्मीक भावों की विशुद्धि (निर्मलता) के लिये वाह्य परिग्रहों (वस्त्रादिकों) का त्याग किया जाता है, जो अभ्यन्तर परिग्रह (रागादिभाव) कर सहित हैं तिसके वाह्य परिग्रह का त्याग निष्फल है।

भावरहिओ ण सिज्झइ जइवितवंचरइ कोडि कोडी ओ ।
जम्मंतराइवहुसो लंवियहच्छो गलिय वच्छो ॥ ४ ॥

भावरहितो न सिद्धान्ति यद्यपि तपश्चरति कोट कोटी ।
जन्मान्तराणि वहुशः लम्बितहस्तो गलितवस्त्रः ॥

अर्थ—आत्म स्वरुप की भावना रहित जो कोई पुरुष भुजाओं को लम्बा छोडकर, और वस्त्र त्याग कर अर्थात वाह्य दिगम्बर भेष धारण कर कोटा कोटी जन्मों में भी बहुत प्रकार तपश्चरण करे तो भी सिद्धि को नहीं पाता है। अर्थात भावलिङ्ग ही मोक्ष का कारण है।

परिणामम्मि असुद्धे गंथे मुचेइ वाहरेय जइ ।
वाहिर गंथचाओ भाव विहूणस्स किं कुणइ ॥ ५ ॥

परिणामे अशुद्धे ग्रन्थान मुञ्चति वाह्यान यदि ।
वाह्यग्रन्थ त्यागः भाव विहीनस्स किं करोति ॥

अर्थ—अन्तरङ्ग परिणामों के मलिन होने पर जो वाह्यपरिग्रह (वस्त्रादिकों) को छोड़े है सो वाह्य परिग्रह का त्याग उस भावहीन मुनि के वास्ते क्या करे है ? अर्थात निष्फल है ।

जाणहि भावं पढमं किं ते लिंगेण भावरहियेण ।
पंथिय शिवपुरि पथं जिण उवइट्ठं पयत्तेण ॥ ६ ॥

जानीहि भावं प्रथमं किं ते लिङ्गेण भावरहितेन ।
पाथिक शिवपुरीपथः जिनेनो पदिष्टः प्रयत्नेन ॥

अर्थ—हे भव्य ? भाव (अन्तरङ्ग परिणामों की शुद्धता) को मुख्य (प्रधान) जानो तुम्हारे भावरहित वाह्य लिङ्गकर क्या फल है ? (कुछ नहीं है) पथिक अर्थात हे मुसाफिर मोक्ष पुरी का मार्ग जिनेंद्र देवने भाव ही उपदेशा है इस कारण प्रयत्न से इसको ग्रहण करो ।

भावरहिएण स उरिस अणाइ कालं अणंत संसारे ।
गहि उज्झयाओ वहुसो वाहिर णिग्गंथ रुवाइ ॥ ७ ॥

भावरहितेन सत्पुरुष अनादिकालम् अनन्त संसारे ।
ग्रहीता उज्झिता वहुशः वाह्यनिर्ग्रन्थरुपाः ॥

अर्थ—हे सत्पुरुष तुमने अनादि काल से इस अनन्त संसार में बहुत वार भावलिङ्ग विना वाह्य निर्ग्रन्थ रुप को धारण किया और छोडा परन्तु जैसे के तैसे ही संसारी बने रहे ।

भीसण णरय गईए तिरयगईए कुदेव मणुगइ ए ।
पत्तो सिती दुक्खं भावहि जिण भावणा जीव ॥ ८ ॥

भीषण नरकगतौ तिर्यग्गतौ कुदेव मनुष्यगतौ ।
प्राप्तोसि तीव्र दुःखं भावय जिन भावनां जीव ॥

अर्थ—हे जीव ! तुमने भावना विना भयानक नरक गति में, तिर्यञ्च गति में, कुदेव और कुमानुष गति में अत्यन्त (तीव्र) दुःखं को पाया है इससे तुम जिन भावना को भावो चिन्तवो ।

सत्तसु णरयावासे दारुणभीसाइं असहणीयाए ।
भुत्ताइं सुइरकालं दुक्खाइं णिरंतर हि सहियाइं ॥ ९ ॥

सप्तसु नारकवासे दारुण भीष्माणि असहनीयानि ।
भुक्तानि सुचिरकालं दुःखानि निरन्तरं सहितानि ॥

अर्थ—हे जीव तुमने सातों नरक भूमियों के आवास (बिल) में तीव्र भयानक असहनीय ऐसे दुःखों को बहुत काल तक निरन्तर भोगे और सहे।

खणणुत्तावण वालण वेयण विच्छेयणाणि रोहं च ।
पत्तोसि भावरहिओ तिरयगइए चिरं कालं ॥१०॥

खननोत्तापन ज्वालन व्यजन विच्छेदन निरोधनं च ।
प्राप्तोसि भावरहितः तिर्यग्गतौ चिरकालम् ॥

अर्थ—हे आत्मन् ? भावना विना तिर्यंच गति में बहुत काल अनेक दुःख पाये हैं, जब पृथिवी कायिक भया तब कुदाल फावड़ा आदि से खोदने से, जब जल कायिक हुवा तब तपाने से, जब अग्नि कायिक हुवा तब बुझावने से, वायु कायिक हुवा तब हिलाने फटकने से, जब बनस्पति हुवा तब काटने छेदने रांधने से, और जब विकलत्रय हुवा तब रोकने (बांधने) से महादुःख पाये।

आगंतुक माणसियं सहजं सरीरयं च चत्तार ।
दुक्खाइं मणुयजम्मे पत्तोसि अणंतयं कालं ॥११॥

आगन्तुकं मानसिकं सहजं शारीरकं च चत्वारि ।
दुःखानि मनुजजन्मनि प्राप्तोसि अनन्तकं कालम् ॥

अर्थ—हे जीव ? तुमको इस मनुष्य जन्म में आगन्तुक आदि अनेक दुःख अनन्त काल पर्यन्त प्राप्त हुवे हैं।

भावार्थ—जो अकस्मात बज्रपात (विजली) आदि के पड़ने से दुःख होय सो आगन्तुक है इच्छित वस्तु के न मिलने पर जो चिन्ता होती है उसको मानसीक दुःख कहते हैं, वात पित्त कफ से

ज्वरादिक व्याधियों का होना सहज दुःख है, शरीर के छेदने भेदने आदि से जो दुःख हों उनको शारीरक कहते हैं। इत्यादिक अनेक दुःख मनुष्य भव में प्राप्त होते हैं इससे मनुष्य गति भी दुःख से खाली नहीं है।

सुरणिलएसु सुरच्छर विओय काले य माणसं तिव्वं।
संपत्तोसि महाजस दुःखं सुह भावणारहिओ ॥१२॥

सुरनिलयेषु सुराप्सरा वियोग काले च मानसं तीव्रम्।
संप्राप्तोसि महायशः दुःखं शुभ भावना रहितः ॥

अर्थ—देवलोक में भी प्रियतम देवता (प्यारीदेवी वा प्यारादेव) के वियोग समय का दुःख और बड़ी ऋद्धि धारी इन्द्रादिक देवताओं की विभूति देख कर आप को हीन मानना ऐसा तीव्र मानसीक दुःख शुभ भावना के बिना पाया।

कंदप्पमाइयाओ पंचविअसुहादि भावणाईय।
भाऊण दव्वलिंगी पहीणदेवो दिवे जाउ ॥१३॥

कान्दर्पी त्यादयः पञ्चअपि अशुभ भावना च।
भावयित्वा द्रव्यलिङ्गी प्रहीणदेवः दिविजातः ॥

अर्थ—हे भव्य? तू द्रव्यलिङ्गी मुनि होकर कन्दर्पी आदि पांच अशुभ भावनाओं को भाय कर स्वर्ग में नीच देव हुवा।

पासच्छ भावणाओ अणाय कालं अणेय वारायो।
भाऊण दुहंपत्तो कुभावणा भाववीएहिं ॥१४॥

पार्श्वस्थभावना अनादिकालम् अनेकवारान्।
भावयित्वा दुःखं प्राप्तः कुभावना भाववीजैः ॥

अर्थ— पार्श्वस्थ आदिक भावनाओं को भाय कर अनादि काल से कुभावनाओं के परिणामरुपी वीजों से अनेक बार बहुत दुःख पाये।

भावार्थ—जो वसतिका बनाय आजीविका करे और अपने को मुनि प्रसिद्ध करे सो पार्श्वस्थ मुनि है, जो कषायवान होकर

व्रतों से भ्रष्ट होय संघ का अविनय करे वह कुशील है, ज्योतिष मन्त्र तन्त्र से आजीविका करै राजादिक का सेवक होवै वह संसक्त है, जिन आज्ञा से प्रतिकूल चारित्र भ्रष्ट आलसी को अवसन्न कहते हैं, गुरु कुल को छोड़ अकेला स्वच्छन्द फिरता हुवा जिन वचन को दूषित बतानेवाला मृगचारी है, इसी को स्वच्छन्द भी कहते हैं ॥ यह पांचों श्रमणाभास (मुनिसमान ज्ञात होते हैं पर मुनि नहीं) जिनधर्म बाह्य हैं ।

देवाण गुण विहूई रिद्धिमाहप्प वहुविहं दट्ठुं ।

हो ऊण हीणदेवो पत्तो वहुमाणसं दुःखं ॥१५॥

देवानां गुण विभूति ऋद्धि महात्म्यं वहुविधं दृष्ट्वा ।

भूत्वा हीनदेवो प्राप्त वहुमानसं दुःखम् ॥

अर्थ—हे जीव जब तू हीन ऋद्धि देव भया तब तूने अन्य महर्धिक देवों के गुण (अणिमादिक) विभूति (स्त्री आदिक) और ऋद्धि के महत्व को बहुत प्रकार देख कर अनेक प्रकार के मानसीक दुःखों को पाया ।

चउविह विकहासत्तो मयमत्तो असुह भाव पयडच्छो ।

होऊण कुदेवत्तं पत्तोसि अणेय वाराओ ॥१६॥

चतुर्विधविकथासक्तः मदमत्तः अशुभभावप्रकटार्थः ।

भूत्वा कुदेवत्वं प्राप्तोसि अनेकवारान् ॥

अर्थ—हे आत्मन् ? तुम (द्रव्यलिङ्गीमुनि होय) चार प्रकार की विकथा (अहार, स्त्री, राज, चोर,) आठ मदों कर गर्वित तथा अशुभ परिणामों को प्रकट करने वाले होकर अनेक वार कुदेव (भवनवासी आदि हीन देव) हुवे हो ।

असुई वीहत्थे हिय कलिमल वहुला हि गब्भ वसहीहिं ।

वसिओसिचिरं कालं अणेय जणणीहिं मुणिपवर ॥१७॥

अशुचिषु वीभत्सासु कलिमलवहुलासु गर्भवसतिषु ।

उषितोसि चिरकालं अनेका जनन्यः हि मुनिप्रवर ॥

अर्थ—भो मुनिप्रवर (मुनिप्रधान) आप अपवित्र, घिणावनी पाप के समान अप्रिय, अत्यन्त मलीन ऐसी अनेक माताओं के गर्भ में बहुत काल रहे हो ।

पीओसि थणछीरं अणंत जम्मंतराय जणणीणं ।
अण्णण्णाण महाजस सायर सलिलादु अहियतरं ॥१८॥
पीतोसि स्तनक्षीरं अनन्तजन्मान्तरेषु जननीनाम् ।
अन्यान्यासाम् महायशः सागरसलिलात्तु अधिकतरम् ॥

अर्थ—हे यशस्वी मुनिवर आपने अनन्त जन्मों में न्यारी न्यारी मताओं के स्तनोंका दुग्ध इतना पीया जो यदि एकत्र किया जाय तो समुद्र के पानी से बहुत अधिक होजावें ।

तुह मरणे दुक्खेण अण्णण्णाणं अणेय जणणीणं ।
रुण्णाण णयणणीरं सायर सलिलादु अहियतरं ॥१९॥
तव मरणे दुःखेन अन्यान्यासाम् अनेक जननीनाम् ।
रुदितानां नयन नीरं सागर सलिलात्तु (तु)अधिकतरम् ॥

अर्थ—तेरे मरने के दुःख में अनेक जन्म की न्यारी न्यारी माताओं के रोने से जो आंखों का पानी गया यदि वह इकट्ठा किया जावे तो समुद्र के जल से अधिक होजावै—

भवसायरे अणंते छिण्णुज्झिय केसणहरणालट्ठि ।
पुंजइ जइ कोवि जिय हवदि य गिरिसमाधियारासी॥२०॥
भवसागरे अनन्ते छिन्नानि उज्झितानि केशनखनालास्थीनि ।
पुञ्जयति यदि कश्चित् एव भवति च गिरिसमधिका राशिः ॥

अर्थ—इस अनन्त संसार समुद्र में तुमारे शरीरों के केश नख नाल अस्थि (हड्डी) इतने कटे तथा छूटे जो प्रत्येक का पुञ्ज (ढेर) किया जाय तो सुमेर पर्वत से भी अधिक ऊंचे ढेर हो जावें ।

जल थल सिह पवणंवर गिरिसरिदरि तरुवणाइ सव्वत्तो ।
वसिओसि चिरं कालं तिहुवण मज्झे अणप्पवसो ॥२१॥

जल स्थलशिखिपवनांवर गिरिसरिद्दरी तरु वनेषु सर्वत्र ।
उषितोसि चिरं कालं त्रिभुवनमध्ये अनात्मवशः ॥

अर्थ—तुम ने शुद्धात्म भावना बिना इस तीन लोक में सर्वत्र अर्थात् जल में थल में अग्नि में पवन में आकाश में तथा पर्वतों पर नदियों में पर्वतों की गुफाओं में वृक्षों में और बनों में बहुत काल निवास किया है।

गसियाइ पुग्गलाइं भवणोदर वित्तियाइ सव्वाइं ।
पत्तोसि ण तत्ति पुण रुत्तं ताइं भुजंतो ॥२२॥

ग्रसिता पुद्गला भुवनोदर वर्तिनः सर्वे ।
प्राप्तोसि न तृप्तिः पुनरुक्तं तान् भुञ्जन् ॥

अर्थ—तीन लोक में जितने पुद्गल हैं वह सर्व ही तुमने ग्रहण किये भक्षण किये, तथा तिनको भी पुन पुनः भोगे परन्तु तृप्त न हुवे।

तिहूण सलिलं सयलं पीयं तिराहाए पीडिएण तुमे ।
तोविण तिणहा छेओ, जायउ चिंतह भवमहणं ॥२३॥

त्रिभुवनसलिलं सकल पीतं तृष्णाया पीडितेन त्वया ।
तदपि न तृष्णा छेदः जातः चिन्तय भवमथनम् ॥

अर्थ—इस संसार में तृष्णा (प्यास) कर पीडित हुवे तुमने तीन जगत का समस्त जल पीया तौ भी तृष्णा का नाश न हुवा अब तुम संसार का मथन करने वाले सम्यग्दर्शनादिक का विचार करो।

गहि उज्झियाइं मुणिवर कलवराइं तुमे अणेयाइं ।
ताणं णात्थिपमाणं अणन्त भव सायरे धीर ॥ २४ ॥

गृहीतोज्झितानि मुनिवर कलेवराणि त्वया अनेकानि ।
तेषां नास्ति प्रमाणम् अनन्त भवसागरे धीर ? ॥

अर्थ—भो धीर ? भो मुनिवर ? इस अनन्त संसार सागर में अनन्ते शरीरे ग्रहे और छोड़े तिनकी कुछ गणती नहीं।

विसवेयण रक्खय भयसच्छगहण सङ्कलेसाणं।
आहारुस्सासाणं णिरोहणा खिज्जए आऊ ॥ २५ ॥
हिम जलण सलिल गुरुयर पव्वय तरुरूहाणपडणभङ्गेहिं।
रसविज्जजोयधारण अणय पसङ्गेहि विवहेहिं ॥ २६ ॥
इय तिरिय मणुय जम्मे सुइरं उववज्जिऊण वहुवारं।
अवमिच्चुमहादुक्खं तिव्वं पत्तोसि तं मित्त ॥ २७ ॥

विषवेदना रक्तक्षय भयशस्त्रग्रहण संक्लेशानाम्।
आहारोच्छ्वासानां निरोधनात् क्षीयते आयुः ॥
हिम ज्वलन सलिल गुरुतरपर्वत तरु रोहणपतन भङ्गैः।
रसविद्यायोगधारणानयप्रसंगैः विविधैः ॥
इति तिर्यङ् मनुष्य जन्मनि सुचिरम् उपपद्यवहुवारम्।
अपमृत्युमहादुःखं तीव्रं प्राप्नोसि त्वं मित्र ? ॥

अर्थ—हे मित्र तिर्यञ्च और मनुष्य गति में उत्पन्न होकर अनादिकाल से वहुत वार अकालमृत्यु से अति तीव्र महादुःख पाये हैं। आयु की स्थिति पूर्ण विना हुवे उसका किसी वाह्य निमित्त से नष्ट हो जाना अकालमृत्यु है, यह मनुष्य और तिर्यञ्चों के ही होती है अकालमृत्यु के निमित्त कारण ये हैं। विष भक्षण, तीव्र वेदना, रक्तक्षय (रुधिर का नाश), भय, शस्त्रघात, संक्लेशपरिणाम, आहार का न मिलना, श्वास उच्छ्वास का रुकना तथा वर्फ शीत अग्नि जल तथा ऊंचे पर्वत वा वृक्ष पर चढ़ते हुवे गिर पड़ना, शरीर का भङ्ग होना रस (पारा आदि धातु उपधातु) के भस्म करने की विद्या का संयोग अर्थात कुश्ता बनाते हुवे किसी प्रकार की भूल हो जाने से और अन्याय अर्थात परधन परस्त्री हरण आदिक के कारण राजा से फांसी पाना इत्यादि अनेक कारण हैं।

छत्तीसं तिण्णिसया छावट्ठि सहस्सवार मरणानि ।
अन्तो मुहूत्तमज्झे पत्तोसि निगोद* वासम्मि ॥ २८ ॥

षट् त्रिंशत्रिशत षट् षष्टि सहस्रवारान् मरणानि ।
अन्त मुहूर्त्त मध्ये प्राप्तोसि निकोत वासे ॥

अर्थ—तुमने निकोत अवस्था में अर्थात अलब्ध पर्याप्तक अवस्था में अन्तर्मुहूर्त्त में ६६३३६ (छासठि हजार तीन सें छत्तीस) बार मरण किया है।

वियलिन्दिए असीदिं सट्ठी चालीसमेव जाणेह ।
पञ्चेन्दिय चउवीसं खुद्दभवन्तोमुहुत्तस्स ॥ २९ ॥

विकलेन्द्रियाणाम् अशीतिः षष्टिः चत्वारिंशदेव जानीत ।
पञ्चेन्द्रियाणां चतुर्विंशतिः क्षुद्रभवा अन्तर्मुहूर्त्तस्य ॥

अर्थ—अन्तर्मुहूर्त में विकलत्रय के (द्वीन्द्रिय-त्रीन्द्रिय-चतुरिन्द्रिय क्रम से ८० अस्सी ६० साठि और ४० चालीश क्षुद्रभव हैं तथा पञ्चेन्द्रिय के २४ चौवीस होते हैं ऐसा जानो। अर्थात अन्तर्मुहूर्त में दो इन्द्री जीव अधिक से अधिक ८० और तेइन्द्रीय ६० चौइन्द्रिय ४० और पञ्चेन्द्रिय जीव २४ जन्म धारण कर सक्ता है—

---

* प्राकृत में जो निगोद शब्द है उसकी संस्कृत प्रकृति निकोत है निगोद नहीं है। निगोद तो एकेन्द्रिय वनस्पतिकाय का भेद प्रभेद है। और निकोत त्रसों की भी पर्याय का वाचक है। तदुक्तं श्री अमृतचन्द्रसूरिभिः पुरुषार्थसिद्ध्युपाये आमास्वपि पक्वास्वपि विपच्यमानासु मांस पेशीषु सातत्येनोत्पादस्तज्जातीनां निकोतानाम् ६७। इहां पर भी "निकोत" शब्द का अर्थ अलब्ध पर्याप्तक है। क्षुद्र भवों की संख्या इस प्रकार है। सूक्ष्मपृथिवीकायिक १ वादरपृथिवीकायिक २ सूक्ष्म जलकायिक ३ वादरजलकायिक ४ सूक्ष्मतेजस्कायिक ५ वादरतेजकायिक ६ सूक्ष्म वायुकायिक ७ वादरवायुकायिक ८ सूक्ष्मसाधारणनिगोद ९ वादरसाधरणनिगोद १० सप्रतिष्ठित वनस्पति ११ इन प्रत्यक के ६०१२ मरण हैं सर्वमिलकर एकेन्द्रिय के (६०१२ × ११ = ६६१३२ हुवे। द्विन्द्रीय के ८० त्रीन्द्रिय के ६० चतुरिन्द्रिय के ४० और पञ्चेन्द्रिय के २४। सर्व मिलकर (६६१३२ + ८० + ६० + ४० + २४ =) ६६३३६ छासठि हजार तीन से छत्तीस हुवे।

रयणत्तेसु अलद्धे एवं भमिओसि दीहसंसारे ।
इयजिणवरेहि भणियं तं रयणत्तयं समायरह ॥ ३० ॥

रत्नत्रये स्वलब्धे एवं भ्रमितोसि दीर्घसंसारे ।
इति जिनवरैर्भणितं तत् रत्नत्रयं समाचर ॥

अर्थ—तुमने रत्नत्रय (सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान सम्यक्‌चारित्र) के न मिलने पर इस अनन्त संसार में उपर्युक्त प्रकार भ्रमण किया है ऐसा श्री अर्हन्तदेव ने कहा है इस से रत्नत्रय को धारण करो।

अप्पा अप्प म्मिर ओ सम्माइट्ठी हवेफुड जीवो ।
जाणइ तं सराणाणं चरदिह चारित्त मग्गुत्ति ॥ ३१ ॥

आत्मा आत्मनिरतः सम्यग्दृष्टि भवति स्फुटं जीवः ।
जानाति तत् संज्ञानं चरतीह चारित्रं मार्ग इति ॥

अर्थ—रत्नत्रय का वर्णन दो प्रकार है, निश्चय और व्यवहार निश्चय यहां निश्चयनयकर कहते हैं। जो आत्मा आत्मा में लीन हो अर्थात यर्थाथ स्वरूप का अनुभव करे तद्रूप होकर श्रद्धान करे सो सम्यगदृष्टि है। आत्मा को जाने सो सम्यगज्ञान है। आत्मा में लीन होकर जो आचरण करे रागद्वेष से निवृत्त होवे सो सम्यकचारित्र है। इस निश्चय रत्नत्रय का साधन व्यवहार रत्नत्रय है। सच्चे देव गुरु और शास्त्र का श्रद्धान करना व्यवहार सम्यग्दर्शन है, जीवादिक सप्त तत्वों का जानना व्यवहार सम्यग्ज्ञान है तथा पाप क्रियाओं से विरक्त होना सम्यक्‌चारित्र है।

अण्णे कुमरण मरणं अणेय जम्मं तराइ मरिओसि ।
भावय सुमरण मरणं जरमरण विणासणं जीव ॥ ३२ ॥

अन्यस्मिन् कुमरण मरणम् अनेक जन्मान्तरेषु मृतोसि ।
भावय सुमरण मरणं जन्ममरण निशानं जीव ! ॥

अर्थ—हे जीव? तुम अनेक जन्मों में कुमरण मरण से मरे हो अब तुम जन्म मरण के नाश करने वाले सुमरण मरण को भावो।

सो णत्थि दव्वसवणे परमाणु पमाणे मेतओ णिलओ ।
जत्थ ण जाओण मओ तियलोय पमाणि ओ सव्वो ॥३३॥

स नास्ति द्रव्य श्रमण परमाणु प्रमाणमात्रो निलयः ।
यत्र न जातः न मृतः त्रिलोकप्रमाणः सर्वः ॥

अर्थ—इस त्रिलोक प्रमाण समस्त लोकाकाश में ऐसा कोई परमाणु प्रमाण (प्रदेश) मात्र भी स्थान नहीं है जहां पर द्रव्यलिङ्ग धारण कर जन्म और मरण न किया हो।

कालमणंतं जीवो जम्म जरामरण पीडिओ दुक्खं ।
जिणलिंगेण विपत्तो परंपरा भावरहिएण ॥३४॥

कालमनन्त जीवः जन्म जरामरण पीडितः दुःखम् ।
जिनलिङ्गेन अपि प्राप्तः परम्परा भावरहितेन ॥

अर्थ—श्री वर्धमान सर्वज्ञ देव से लेकर केवली श्रुत केवली और दिगम्बराचार्य की परम्परा द्वारा उपदेश किया हुवा जो यथार्थ जिनधर्म उससे रहित होकर बाह्य दिगम्बर लिङ्ग धारण करके भी अनन्त काल अनेक दुःखों को पाया और जन्म जरा मरण पीडित हुवा। अर्थात् संसार में ही रहा और मुक्ति की प्राप्ति न हुवी।

पडिदेससमय पुग्गल आउग परिणाम णाम कालट्ठं ।
गहि उज्झियाइं वहुसो अणंत भव सायरे जीवो ॥३५॥

प्रतिदेश समय पुद्गल-आयुः परिणाम नाम कालस्थम् ।
ग्रहीतोज्झितानि वहुशः अनन्त भव सागरे जीवः ॥

अर्थ—इस जीव ने इस अनन्त संसार समुद्र में इतने पुद्गल परमाणुओं को ग्रहण किया और छोडा जितने लोकाकाश के प्रदेश हैं और एक एक प्रदेशों में शरीर को ग्रहण किया और छोडा, तथा प्रत्येक समय में प्रति परमाणु तथा प्रत्येक आयु और सर्व परिणाम (क्रोधमान माया लोभ मोह रागद्वेषादिकों के जितने अविभागी प्रतिच्छेद होते हैं उतने) समस्त ही नाम (नाम कर्म जितना होता है उतना) और उत्सर्पिणी अवसर्पिणी में स्थित पुद्गल परमाणु ग्रहे और छोड़े।

तेयाला तिण्णसया रज्जुणं लोय खेत्त परिमाणं ।
मुत्तूणट्ठ पएसा जच्छ ण दुरुढुल्लिओ जीवो ॥३६॥

त्रिचत्वारिंशात्त्रिशत रज्जूनां लोक क्षेत्र प्रमाणं ।
मुक्त्वाऽष्टौ प्रदेशान् यत्र न भ्रमितः जीवः ॥

अर्थ—तीन से तेतालीसराजु घनाकार लोकाकाश का प्रमाण है जिस के मध्यवर्त्ती आठ प्रदेशों को छोड़ कर अन्य सर्व प्रदेशों में यह जीव भ्रमा है अर्थात् जन्म और मरण किये हैं।

एकेकंगुलवाही छण्णवदि हुंति जाण मणुयाणं ।
अवसेसेय सरीरे रोया भणि केत्तिया भणिया ॥३७॥

एकैकाङ्गुलौ व्याधयः षण्णवतिः भवन्ति जानीहि मनुष्यानाम् ।
अवशेषे च शरीरे रोगा भण कियन्तो भणिताः ॥

अर्थ—मनुष्य के शरीर विषे एक अङ्गुल स्थान में छयानवे ९६ रोग होते हैं तो कहिये समस्त शरीर में कितने रोग हैं? जब एक अङ्गुल में ९६ रोग हैं तो समस्त मनुष्य शरीर में कितने ऐसा त्रैरासिक करें और फिर समस्त शरीर की लम्बाई चौड़ाई उंचाई नाप कर पोल (शून्यस्थानों) को घटाय घनफल निकाले उसको ९६ से गुणा कर जो संख्या आवे तितने रोग इस मनुष्य शरीर में हैं।

ते रोया वियसयला सहिया ते परवसेण पुव्वभवे ।
एवं सहसि महाजस किंवा वहुएहिं लविएहिं ॥३८॥

ते रोगा अपिच सकला सोढा त्वया परवशेन पूर्वभवे ।
एवं सहसे महाशयः किंवा वहुभिः लपितैः ॥

अर्थ—वे पूर्वोक्त सर्वही रोग पूर्व भवों में कर्मों के आधीन होकर तुमने सहे अव अनुभव (विचार) करो बहुत कहने कर क्या ?

पित्तंत मूत्त फेफस कालिज्जय रुहिर खरिस किमिजाले ।
उयरे वसिओसि चिरं णवदश मासेहिं पत्तेहिं ॥३९॥

पित्तान्त्रमूत्र फेफस कालिज रुधिर खरिस क्रमिजाले ।
उदरे वसितोऽसि चिरं नवदश मासै पूर्णैः ॥

अर्थ—तुमने ऐसे उदर में पूरे नौ २ दश २ महीने अनन्तबार निवास किया। जिस में पित्त आंतड़ी मूत्र फेफस (जो रुधिर बिना मेदा के फूल जाता है) कालिज (रुधिर विकृति) खरिस (श्लेष्मा) और क्रमि (लट सदृशजन्तु) समूह विद्यमान हैं।

दिय संगहिय मसणं आहारियमाय भुत्तमण्णंते।
छद्दिखरसाण मज्झे जठरे वसिओसि जणणीए ॥४०॥

द्विज भृङ्गस्थित मशन माहृत्य मातृभुक्तमन्नन्ते।
छर्दिखरसयोर्मध्ये जठरे उषितोसि जनन्याः॥

अर्थ—तुमने माता के गर्भ में छर्दि (माता कर खाया हुआ झुठा अन्न) और खरिस (अपक्व और मल रुधिर से मिली हुई वस्तु) के मध्य निवास किया जहां पर माता कर खाये हुवे अन्न को जो कि उसके दांतों के अग्र भागों से चबाया गया है खाया।

भावार्थ—जो अन्न माता ने अपने दांतों से चबायकर निगला हुवा है उस उच्छिष्ट को खाकर गर्भाशय में मल और रुधिर में लिपटे हुवे संकुचित होकर वसे हो।

सिसु कालेय अयाणे असुई मज्झम्मिलोलिओसि तुमं।
असुई असिया वहुसो मुणिवर वालत्तपत्तेण ॥ ४१ ॥

शिशुकाले च अज्ञाने अशुचिमध्ये लुठितोसि त्वम्।
अशुचिः अशिता वहुशः मुनिवर वालत्व प्राप्तेन॥

अर्थ—भो मुनिवर अज्ञानमयी बाल्य अवस्था में तुम अपवित्र स्थानों में लोटे। और बालपने में बहुत बार अनेक भवों में अशुचि विष्टा आदि खा चुके हो।

संसट्ठि सुक्क सोणिय पित्तं तसवत्त कुणिम दुग्गन्धं।
खरिस वस पूइ खिब्भिस भरियं चिन्तेहि देह उडं ॥४२॥

मांसास्थिशुक्रश्रोणित पित्तान्त्र श्रवत् कुणिम दुर्गन्धम्।
खरिस वशापूति किल्विष भरितं चिन्तय देहकुटम्॥

अर्थ—भो यतीश्वर ? इस देह कुटी के स्वरूप को विचारो,

इस में मांस, हड्डि, शुक्र, रुधिर, पित्त, आंते जिसमें झरती हुवी अत्यन्त दुर्गन्धि है तथा अपक्कमल मेदा पूति (पीव) और अपवित्र (सड़ा हुवा) मल भरा हुवा है।

भाव विमुत्तो मुत्तो णय मुत्तो बन्धवाइमित्तेण।
इय भाविऊण उज्झ सु गन्थं अब्भं तरं धीर ॥ ४३ ॥

भावविमुक्तो मुक्तः नच मुक्तः बान्धवादिमात्रेण।
इति भावयित्वा उज्झय गन्धमभ्यन्तरं धीर ! ॥

अर्थ—जो भाव (अन्तरङ्गपरिग्रह) से छूट गया है वही मुक्त है। कुटम्बी जनों से छूट जाने मात्र से मुक्त नहीं कहते हैं ऐसा विचार कर हे धीर अन्तरङ्ग वासना को (ममत्व को) त्याग।

देहादि चत्तसङ्गो माणकसायेण कलुसिओ धीरो।
अत्तावणेण जादो वाहुवली कित्तियं कालं ॥ ४४ ॥

देहादि त्यक्त सङ्गः मानकषायेन कलुषिता धीरः।
आतापनेन जातः वाहुवालिः कियन्तं कालम् ॥

अर्थ—देह आदि समस्त परिग्रहों से त्याग दिया है ममत्व परिणाम जिसने ऐसा धीर वीर वाहुवली संज्वलन मान कषायकर कलुषित होता हुवा आतापन योग से कितनेही काल व्यतीत करता भया परन्तु सिद्धि को न प्राप्त भया। जब कषाय की कलुषता दूर हुई तब सिद्धि प्राप्त हुई।

भावर्थ—श्री ऋषभदेव स्वामी के पुत्र वाहुवलि ने अपने भाई भरत चक्री के साथ युद्ध किये। नेत्रयुद्ध जलयुद्ध और मल्लयुद्ध में बाहुबलि से पराजित होकर भरत ने भाई के मारने को सुदर्शनचक्र चलाया परन्तु वाहुवली चरमशरीरी एकगोत्री थे इससे चक्र उनकी प्रदक्षिणा देकर भरतेश्वर के हस्त में आगया। वाहुवलि ने उसी समय संसार देह और भोगों का स्वरूप जानकर द्वादशानुप्रेक्षाओं का चिन्तवन किया और यह पश्चाताप भी कि मेरे निमित्त से बड़े भाई का तिरस्कार हुवा। पश्चात जिनदीक्षा लेकर एक वर्ष का कायोत्सर्गधारणकर एकान्त वन में ध्यानस्थ हुवे जिनके शरीर पर बेलें लिपट गईं सर्पों ने घर बना लिया। परन्तु में भरतेश्वर की भूमि

पर तिष्ठा हूं ऐसा संज्वलन मान का अंश बना रहा । जब भरतेश्वर ने एक वर्ष पीछे उनकी स्तुति की तब मान दूर होते ही जगत् प्रकाशक केवल ज्ञान प्रकट हुवा और मुक्ति पधारे। इससे आचार्य कहें हैं कि ऐसे २ धीर वीर भी विना भाव शुद्धि के मुक्त नहीं हुवे तो अन्य की क्या कथा इससे भो मुनिवर भाव शुद्धि करो।

महुपिंगो णाम मुणी देहाहारादि चत्तवावारो।
सवणत्तणं ण पत्तो णियाणमित्तेण भवियणुय ॥ ४५ ॥

मधुपिङ्गो नाम मुनिः देहाहारत्यक्तव्यापारः।
श्रमणत्वं न प्राप्तः निदान मात्रेण भव्यनुत ? ॥

अर्थ—भव्य पुरुषों से नमस्कार किये गये हे मुनि शरीर और भोजन का त्याग किया है जिसने ऐसा मधुपिङ्गलनामा मुनि निदान मात्र के निमित्त से श्रमणपने को (भावमुनिपने को) न प्राप्त हुवा । मधुपिङ्गल की कथा पद्मपुराण हरि वंश पुराण में वर्णित है।

अण्णं च वसिट्ठमुणि पत्तो दुक्खं णियाण दोसेण।
सो णत्थि वास ठाणो जत्थ ण दुरुदुल्लिओजीवो ॥४६॥

अन्यच्च वशिष्टमुनिः प्राप्तः दुःखं निदान दोषेण।
तन्नास्ति वासस्थानं यत्र न भ्रान्तो जीवः ॥

अर्थ—और भी एक वशिष्टनामा मुनि ने निदान के दोषकर दुःखों को पाया है। हे भव्योत्तम ? ऐसा कोई भी निवास स्थान नहीं है जहां यह जीव भ्रमा न हो। वशिष्ट तापसी ने चारण ऋद्धि-धारी मुनि से सम्बोधित होकर जिन दीक्षा ली और अनेक दुद्धर तप किये परन्तु निदान करने से उग्रसेन का पुत्र कंस हुवा और कृष्णनारायण के हाथ से मृत्यु को पाकर नरक गया।

सो णत्थितं पएसो चउरासीलक्खजोणि वासम्मि।
भाव विरओवि सवणो जत्थ ण दुरुटिल्लिओ जीवो ॥४७॥

स नास्ति त्वं प्रदेशः चतुरशीति लक्षयोनि वासे।
भावविरतोऽपि श्रवण यत्र न भ्रान्तः जीवः ॥

अर्थ—संसार में चोरासी लाख ८४००००० योनियों के स्थान में ऐसा कोई प्रदेश नहीं है जहां पर भाव लिङ्ग रहित मुनि होकर न भ्रमा होय ? अर्थात सर्व स्थानों में समस्त योनि धारण की हैं।

भावेण होइ लिंगी णहुलिङ्गी होई दव्वमित्तेण ।
तम्हा कुणिज्जभावं किं कीरइ दव्वलिङ्गेण ॥ ४८ ॥

भावेन भवति लिङ्गी न स्फुटं भवति द्रव्यमात्रेण ।
तस्मात् कुर्याः भावं किं क्रियते द्रव्यलिङ्गेन ॥

अर्थ—भाव लिङ्ग से ही जिन लिङ्गी मुनि होता है, द्रव्यलिङ्ग से ही लिङ्गी नहीं होता इससे भावलिङ्ग को धारण करो द्रव्यलिङ्ग से क्या हो सक्ता है।

दण्डय णयरं सयलं दहिओ अब्भंतरेण दोसेण ।
जिण लिङ्गेण विवाहु पडिओ सो उरयं णरयं ॥ ४९ ॥

दण्डक नगरं सकलं दग्धा अभ्यन्तरेण दोषेण ।
जिनलिङ्गेनापि वाहुः पतितः स रौरवं नरकम् ॥

अर्थ—वाह्यजिनलिङ्गधारी वाहुनामा मुनि ने अभ्यन्तर दोष से (कषायों से) समस्त दण्डक राज्य को और उसके नगर को भस्म किया और आप भी सप्तम नरक के रौरव नरक में नारकी हुवा।

दक्षिण भरतक्षेत्र में कुम्भकारक नगर का स्वामी दण्डक राजा था जिसकी सुव्रता नामा रानी थी और वालक नामा मन्त्री था किसी समय अभिनन्दन आदि ५०० मुनि आये तिनकी बन्दना को समस्त नगर निवासी गए और राजा भी गया । विद्याभिमानी बालक मन्त्री ने खण्डकमुनि के साथ बाद आरम्भ किया। परास्त होकर मन्त्री ने वहरुपिया भाडों से सुव्रता रानी और दिगम्बरमुनि का स्वांग बनवाकर उनको रमते हुवे दिखाये राजा ने क्रोधित होकर समस्त मुनि घाणी में पेले। वे मुनि उस उपसर्ग को सहकर उत्तम गति को प्राप्त भये। पश्चात् एक वाहुनामकमुनि आहार के वास्ते नगर जाते थे तिनको लोकों ने रोका और राजा की दुष्टता वर्णन

की, इस बात से क्रोधित होकर बाहमुनि ने अशुभतैजस से समस्त नगर को, राजा को मन्त्री को और अपने को भी भस्म किया। राजा मन्त्री और आप सप्तम नरक के रौरव नामा बिलमें नारकी हुवा द्रव्यलिङ्ग से वाहुनामामुनि भी कुगति कोही प्राप्त भये। इससे भो मुने भाव लिङ्ग को धारण करो।

अवरोविदव्व सवणो दंसण वर णाण चरणपभट्टो।
दीवायणुत्ति णामो अणंत संसारिओ जाओ ॥५०॥

अपरोपि द्रव्यश्रमण दर्शन वरज्ञान चरण प्रभृष्टः।
दीपायन इति नामा अनन्तसंसारिको जातः ॥

अर्थ—वाहुमुनि के समान और भी द्रव्य लिङ्गी मुनि हुवे हैं तिन में एक दीपायन नामा द्रव्यलिङ्गी मुनि दर्शन ज्ञान चारित्र से भ्रष्ट होता हुवा अनन्त संसारी ही रहा। केवल ज्ञानी श्रीनेमिनाथ स्वामी से वलभद्र ने प्रश्न किया कि स्वामिन् ? इस समुद्रवर्तिनी द्वारिका की अवस्थिति कब तक है। भगवान् ने कहा कि रोहणी का भाई तुमारा मातुल द्वीपायन कुमार द्वादशमें वर्ष में मदिरा पीने वालों से क्रोधित होकर इस नगर को भस्म करेगा, ऐसा सुनकर द्वीपायन जिनदीक्षा लेकर पूर्वदेशों में चलागया, और वहां तप कर द्वादश वर्ष पूर्ण करना प्रारम्भ किया, वलभद्र ने द्वारिका जाय मद्य निषेध की घोषणा दिवाई और मदिरा तथा मदिरा के पात्र मदिरा बनाने की सामिग्री सर्व ही नगर बाहर फिकवादी। वह द्वीपायन १२ वर्ष व्यतीत हुवे जान और जिनेन्द्र वाक्य अन्यथा होगया ऐसा निश्चय कर द्वारिका आय नगर बाहिर पर्वत के निकट आतापन योगधर तिष्ठा, इसी समय शम्भु कुमार आदि अनेक राजकुमार बन क्रीड़ा करते थे तृषातुर होय उन जलाशयों का जल पीया जिन में फेकी हुई वह मदिरा पुरानी होकर अधिक नशीली होगई थी उसके निमित्त से सर्वही उन्मत होकर इधर उधर भागने लगे, और द्वीपायन को देख कहते भये कि यह द्वारिका को भस्म करने वाला द्वीपायन है इसे मारो निकालो और पत्थर मारने लगे जिन से घायल होकर द्वीपायन भूमि पर गिरा और क्रोधित होकर द्वारिका को भस्म किया।

भाव सवणोयधीरो जुवई यणवेढिओवि सुद्धमई ।
णामेण सिवकुमारो परीतसंसारिओ जादो ॥५१

भाव श्रमणश्चधीरो युवतिजन वेष्टितो विशुद्धमतिः ।
नाम्नाशिवकुमारः परीत संसारिको जातः ॥

अर्थ—भाव लिङ्गके धारक धीर वीर अनेक युवति जनोकर चलायमान किये हुवे भी शुद्ध ब्रह्मचारी ऐसे शिवकुमार नामा मुनि अल्प संसारी हो गए। अर्थात् भावलिङ्ग से संसार का नाशकर अनन्त सुख भोक्ता हुवे ।

अर्थात्—ब्रह्मस्वर्ग में विद्युन्माली नामा महर्धिक देव हुआ और वहां से चयकर जम्बू स्वामी अन्तिम केवली होय मुक्त हुवे ।

अङ्गाइं दसय दुणिय चउदस पुव्वाइं सयल सुयणाणं ।
पढियोय भव्वसेणोणभावसवणतणं पत्तो ॥ ५२ ॥

अङ्गानि दशाच द्वेच चतुर्दश पूर्वाणि सकलश्रुतज्ञानम् ।
पठितश्च भव्यसेनः न भावश्रवणत्वं प्राप्तः ॥

अर्थ—एक भव्यसेन नामा मुनि ने बारह अङ्ग और चौदह पूर्व समस्त श्रुतज्ञान को पढ़ा परन्तु भावरूप मुनिपने को नहीं प्राप्त हुवा। जैनतत्वों का श्रद्धान विना अनन्त संसारी ही रहा।

तुसमासंघोसंतो भावविसुद्धो महाणुभावो य ।
णामेण य शिवभूइ केवलिणाणी फुडं जाओ ॥ ५३ ॥

तुषमासं घोषयन् भावविशुद्धो महानुभावश्च ।
नाम्ना च शिवभूतिः केवल ज्ञानी स्फुटं जातः ॥

अर्थ—एक शिवभूतिनामा मुनि महान प्रभाव के धारक विशुद्ध भाव वाले "तुष मास" इस पदको घोषते हुवे केवलज्ञानी हुवे। शिवभूति गुरु से जिनदीक्षा को ग्रहणकर महान तप करता था परन्तु अष्ट प्रवचन मात्रा को ही जानता था अधिक श्रुत नहीं जानता था किन्तु आत्मा को शरीर और कर्म पुंज से भिन्न समझता था, उसको शास्त्र कण्ठ नहीं होता था, एक दिन गुरु ने आत्मतत्व

का वर्णन करते हुवे यह दृष्टान्त कहा कि "तुषात्माषो भिन्नो यथा" (जैसे छिलका से उरद भिन्न है तैसे आत्मा भी शरीर से भिन्न है)। शिवभूति इस वाक्य को घोषता हुवा भी भूल गया पर अर्थ को न भूला। एक दिन एकाकी नगर में गए, वह उस वाक्य के विस्मरण से क्लेशित थे, एक घर पर कोई स्त्री उरद की दाल धो रही थी उससे किसी ने पूछा कि क्या कार्य कर रही हो। उस स्त्री ने कहा कि "जल में डूबे हुये उर्द की दाल को छिलकों से अलग कर रही हूं" इस वाक्य को सुनकर और उस क्रिया को देखकर मुनि अन्य स्थानको गए और किसी उत्तम स्थान पर बैठे उसी समय अन्तमुहूर्त में केवल ज्ञानी हो गये।

भावेण होइ णग्गो वाहरलिङ्गेण किं च णग्गेण।
कम्मपयडीण णियरं णासइ भावेण दव्वेण ॥ ५४ ॥

भावेन भवति नग्नः वहिर्लिङ्गेन किं च नग्नेन।
कर्मप्रकृतीनां निकरः नश्यति भावेन द्रव्येण ॥

अर्थ— जो भाव सहित है सोही नग्न है, वाह्यलिङ्ग स्वरूप नग्नता कुछ भी फल नहीं है, किन्तु कर्मप्रकृतिओं का समूह (१४८ कर्म प्रकृति) भावलिङ्ग सहित द्रव्यलिङ्ग करके नष्ट होता है। ५४।

भावार्थ—बिना द्रव्यलिङ्ग के केवल भावलिङ्गकर भी सिद्धि नहीं होती और भावलिङ्ग बिना द्रव्यलिङ्गकर भी नहीं। इससे द्रव्यचारित्र व्रतादिकों को धारणकर भावों को निर्मल करो ऐसा अभिप्राय "भावेण दव्वेण" कर श्रीकुन्दकुन्द स्वामी ने प्रकट दर्शाया है।

णग्गत्तणं अकज्जं भावरहियं जिणेहि पण्णत्तं।
इय णाऊणयणिच्चं भाविज्जहि अप्पयं धीर ॥ ५५ ॥

नग्नत्वम् अकार्यं भावरहितं जिनै प्रज्ञप्तम्।
इति ज्ञात्वा च नित्यं भावयेः आत्मानं धीर ॥

अर्थ—भावरहित नग्नपना अकार्यकारी है ऐसे जिनेन्द्र देवों ने कहा है ऐसा जानकर भो धीर पुरुषो ? नित्य आत्मा को भावो ध्यावो।

अथ भावलिङ्ग स्वरूप वर्णनम् ।

देहादि संग रहिओ माणकसाएहि सयलपरिचत्तो ।
अप्पा अप्पम्मिरओ सभावलिङ्गी हवे साहू ॥ ५६ ॥

देहादि संगरहितः मानकषायैः सकलं परित्यक्तः ।
आत्मा आत्मनिरतः स भावलिङ्गी भवेत् साधुः ॥

अर्थ—जो शरीरादिक २४ प्रकार के परिग्रह से रहित हो और मानकषाय से सर्व प्रकार छूटा हुवा हो और जिसका आत्मा आत्मा में लीन हो सो भावलिङ्गी साधु है ।

ममत्तिं परिवज्जामि णिम्ममत्तिमुवट्ठिदो ।
आलंवणं च मे आदा अवसेसा इवोस्सरे ॥ ५७ ॥

ममत्वं परिवर्जामि निर्ममत्वमुपस्थितः ।
आलम्बनं च मे आत्मा अवशेषाणि व्युत्सृजामि ॥

अर्थ—मैं ममत्व (ये मेरे हैं, मैं इनका हूं) को छोड़ता हूं निर्ममत्व परिणामों में उपस्थित होता हूं । मेरा आश्रय आत्मा ही है आत्म परिणामों से भिन्न रागद्वेष मोहादिक विभाव भावों को छोड़ता हूं ।

आदाखु मज्झणाणे आदा मे दंसणे चरित्ते य ।
आदापच्चक्खाणे आदा मे संवरे जोग ॥ ५८ ॥

आत्मा खलु मम ज्ञाने आत्मा मे दर्शने चारित्रे च ।
आत्मा प्रत्याख्याने आत्मा मे संवरे योगे ॥

अर्थ—भावलिङ्गी मुनि ऐसी भावना करते हैं कि मेरे ज्ञानही में आत्मा है मेरे दर्शन में तथा चारित्र में आत्मा है प्रत्याख्यान में (परपदार्थ परित्याग में) आत्मा है । संवर में आत्मा है और योग (ध्यान) में आत्मा है ।

भावार्थ—ज्ञान, दर्शन, चारित्र, प्रत्याख्यान, संवर, ध्यान आदि जितने आत्मीक अनन्त भाव हैं तिन स्वरूपही मैं हूं और

येही ज्ञानादिक मेरे स्वरूप हैं। अन्य स्वरूप मैं नहीं हूं और न अन्य मेरा स्वरूप है।

एगो मे सास्सदोअप्पा णाणं दंसण लक्खणो।
सेसा मे वाहिराभावा सव्वे संजोगलक्खणा ॥ ५९ ॥

एको मे शास्वत आत्मा ज्ञानदर्शन लक्षणः।
शेषा मे वाह्या भावा सर्वे संयोग लक्षणाः ॥

अर्थ—भावलिङ्गी मुनि विचार करते हैं कि मेरा आत्मा एक है शाम्वता है और ज्ञानदर्शन ही उसका लक्षण है। रागद्वेषादिक अन्य समस्तही संयोग लक्षण वाले भाव वाह्य हैं।

भावेह भाव सुद्धं अप्पासुविसुद्ध णिम्मलं चेव।
लहु चउगइ चइऊणं जइ इच्छह सासयं सुक्खं ॥ ६० ॥

भावयत भावशुद्धं आत्मानं सुविशुद्धं निर्मलं चैव।
लघु चतुर्गति त्यक्त्वा यदि इच्छत शास्वतं सुखम् ॥

अर्थ—भो मुनीश्वरो? जो आप यह वांछा करते हो कि शीघ्र ही चारों गतिओं को छोड़कर अविनाशी सुख को प्राप्त करो तो भाव शुद्ध करके जैसे तैसे कर्ममल रहित निर्मल आत्मा को भावो चिन्तवो ध्यावो।

जो जीवो भावंतो जीव सहावं सुभाव संजुत्तो।
सो जर मरण विणासं कुणइ फुडं लहइ णिव्वाणं ॥६१॥

यो जीवो भावयन् जीवस्वभावं सुभावसंयुक्तः।
स जन्म मरण विनाशं करोति स्फुटं लभते निर्वानम् ॥

अर्थ—जो भव्य जीव शुद्ध भाव सहित आत्मा के स्वभावों को भावे है वह ही जन्म मरण का विनाश करै है और अवश्य निर्वाण को पावै है।

जीवो जिणपण्णत्तो णाण सहाओय चेयणा सहिओ।
सो जीवो णायव्वो कम्मक्खय कारण णिमित्ते ॥६२॥

जीवो जिनप्रज्ञप्तः ज्ञानस्वभावश्च चेतना सहितः ।
स जीवो ज्ञातव्य कर्मक्षय कारणनिमित्तः ॥

अर्थ—जीव ज्ञान स्वभाव वाला चेतना सहित है ऐसा जिनेन्द्र देव ने कहा है, ऐसाही जीव है ऐसी भावना कर्मों के क्षय करने का कारण है ।

जेसिं जीवसहावो णाच्छि अभावोय सव्वहा तच्छ ।
ते होंति भिन्न देहा सिद्धा वचिगोचर मतीदा ॥ ६३ ॥

येषां जीवस्वभाव नास्ति अभावश्च सर्वथा तत्र ।
ते भवन्ति भिन्नदेहा सिद्धा वचोगोचरातीताः ॥

अर्थ—जिन भव्य जीवों के आत्मा का अस्तित्व है, सर्वथा अभाव स्वरूप नहीं है, ते पुरुषही शरीर आदि से भिन्न होते हुवे सिद्ध होते हैं, वे सिद्धात्मा वचन के गोचर नहीं हैं, अर्थात् उनका गुण बचनों से वर्णन नहीं किया जा सक्ता ।

अरस मरुव मगन्धं अव्वभं चेयणा गुण मसदं ।
जाण मलिङ्गग्गहणं जीव मणिद्दिट्ठ संठाणं ॥ ६४ ॥

अरसमरुपमगन्धम्–अव्यक्तं चेतनागुण समृद्धम् ।
जानीहि अलिङ्गग्रहणं जीव मनिर्दिष्ट संस्थाना ॥

अर्थ—भो मुने ? तुम आत्मा का स्वरूप ऐसा जानो कि वह रस रूप और गन्ध से रहित है, अव्यक्त (इन्द्रियों के अगोचर) है चेतनागुणकर समृद्ध (परिणत) है जिसमें कोई लिंग (स्त्रीलिंग पुलिंगि नपुंसक लिंग) नहीं है और न कोई जिसका संस्थान (आकार) है ।

भावहि पंच पयारं णाणं अण्णाण णासणं सिग्घं ।
भावण भावय सहिओ दिवसि वसुह भायणो होई ॥६५॥

भावय पञ्चप्रकारं ज्ञानम् अज्ञाननासनं शीघ्रम् ।
भावना भावित सहितः दिवशिवसुखभाजनं भवति ॥

अर्थ—तुम उस पांच प्रकार के ज्ञान को अर्थात् मति श्रुत

अवधि मनः पर्यय और केवल ज्ञान को शीघ्रही भावो जो कि अज्ञान के नाश करने वाले हैं। जो कोई भावना कर भावित किये हुवे भावों (परिणामों) कर सहित है सोई स्वर्ग मोक्ष के सुख का पात्र बनता है।

पढिएणवि किं कीरइ किं वा सुणिएण भावरहिएण।
भावो कारण भूदो सायार णयार भूदाणं ॥ ६६ ॥

पठितेनापि किं क्रियते किंवा श्रुतेन भावरहितेन।
भावः कारणभूतः सागारा नगार भूतानाम् ॥

अर्थ—भाव रहित पढ़ने वा सुनने से क्या होता है? सागार श्रावक धर्म और अनगार (मुनि) धर्म का कारण भावही है।

दव्वेण सयल णग्गा णारयतिरियाय संघाय।
परिणामेण अशुद्धा ण भाव सवणत्तणं पत्ता ॥ ६७ ॥

द्रव्येण सकला नग्ना नारकातिर्यञ्चश्च सकलसंघाश्च।
परिणामेण अशुद्धा न भावश्रमणत्वं प्राप्ता ॥

अर्थ—द्रव्य [वाह्य] कर तो समस्त ही प्राणी नग्न [वस्त्र रहित] हैं, नारकीतिर्यंच तथा अन्य नर नारी [वालक वगैराः] वस्त्र रहित ही हैं, परन्तु वे सर्वपरिणामों में अशुद्ध हैं अर्थात् भावलिंगी मुनि नहीं हो गये हैं अर्थात् विना भाव के वस्त्र रहित होना कार्यकारी नहीं है।

णग्गो पावइ दुक्खं णग्गो संसारसायरे भमई।
णग्गो ण लहइ वोहिं जिण भावण वज्जिओ सुइरं ॥६८॥

नग्नः प्राप्नोति दुःखं नग्नः संसार सागरे भ्रमति।
नग्नो न लभते बोधिं जिन भावना वर्जितः ॥

अर्थ—जिन भावना रहित नग्न प्राणी नाना प्रकार के चतुर्गति सम्बन्धी दुःखों को पाता है। जिन भावना रहित नग्न प्राणी संसार सागर में भ्रमता है और भावना रहित नग्न प्राणी [वोधि-रत्नत्रयलब्धि] को नहीं पाता है।

अयसाण भायणेणय किन्ते णग्गेण पाप मलिणेण।
पैसुण्णहासमच्छर माया बहुलेण सवणेण ॥ ६९ ॥

अयशसां भाजनेन च किते नग्नेन पापमलिनेन ।
पैशून्य हास्य मत्सर माया वहूलेन श्रमणेन ॥

अर्थ—ऐसे नग्नपने वा मुनिपने से क्या होना है जो कि अपयश [अकीर्ति] का पात्र है और पैशून्य [दूसरों के दोषों का कहना] हास्य, मत्सर [अदेषका भाव] मायाचार आदि जिसमें बहुत ज्यादा हैं और जो पाप कर मलिन है।

भावार्थ—मायाचारी मुनि होकर क्या सिद्ध कर सक्ता है उससे उलटी अपकीर्ति होती है और उससे व्यवहार धर्म की भी हंसी होती है इससे भावलिंगी होनाही योग्य है।

पयडय जिणवरलिङ्गं अब्भंतर भावदोसपरिसुद्धो ।
भावमलेणय जीवो बाहिर संगम्मि मइलियइ ॥ ७० ॥

प्रकटय जिनवरलिङ्गम् अभ्यन्तरभावदोषपरिशुद्धः ।
भावमलेन च जीवो वाह्यसङ्गे मलिनः ॥

अर्थ—अन्तरंग भावों में उत्पन्न होने वाले दोषों से रहित जिनवर लिंग को धारणकर। यह जीव भाव मल [अन्तरंग कषाय आदिक] के निमत्त से बाह्य परिग्रह में मैला हो जाता है।

धम्मम्मि णिप्पवासो दोसावासोय इच्छुफुल्लसमो ।
णिप्फलणिग्गुणयारो णड सवणो णग्गरूवेण ॥ ७१ ॥

धर्मे निप्रवासो दोषावासश्च इक्षुपुष्पसमः ।
निष्फलनिर्गुणकारो न तु श्रमणो नग्नरूपेण ॥

अर्थ—रत्नत्रयरूप, आत्मस्वरूप, उत्तम क्षमादिरूप अथवा वस्तु स्वरूप धर्म में जिसका चित्त लगा हुवा नहीं है बल्कि दोषों का ठिकाना बना हुवा है वह गन्ने के फूलके समान निष्फल और निर्गुण होता हुवा नग्न वेष धारण करनटवा (बहुरुपिया) बना हुवा है।

जेण्य संगजुत्ता जिण भावणरहियदव्वणिग्गंथा ।
ण लहंति ते समाहिं वोहिं जिण सासणे विमले ॥७२॥

येरागसंगयुक्ता जिनभावन रहितद्रव्यनिर्ग्रन्थाः ।
न लभन्ते ते समाधिं बोधिं जिनशासने बिमले ॥

अर्थ—जो रागादिक अन्तरङ्ग परिग्रह कर सहित है और जिन भावना रहित द्रव्य लिङ्ग को धार कर निर्ग्रन्थ बनते हैं वे इस निर्मल (निर्दोष) जिन शासन में समाधि (उत्तम ध्यान) और बोधि (रत्नत्रय) को नहीं पाते हैं।

भावेण होइ णग्गे मिच्छत्ताइंय दोस चइऊण ।
पच्छादव्वेण मुणि पयडदिलिंगं जिणाणाए ॥७३॥

भावेन भवति नग्नः मिथ्यात्वादींश्चदोषान् त्यक्त्वा ।
पश्चाद् द्रव्येण मुनिः प्रकटयति लिङ्गं जिनाज्ञया ॥

अर्थ—मुनि प्रथम मिथ्यात्वादि दोषों को त्याग कर भाव (अन्तरंग) से नग्न होवे, पीछे जिन आज्ञा के अनुसार नग्न स्वरूप लिंग को प्रकट करै ।

भावार्थ—पहले अंतरंग परिग्रह को त्याग कर अंतरंग को नग्न करै पीछे शरीर को नंगा करै—

भावोवि दिव्व सिव सुख भायणो भाववज्जिओसमणो ।
कम्ममल मलिण चित्तो तिरियालय भायणो पावो ॥७४॥

भावोपि दिव्यशिव सुख भाजनं भाववर्जितः श्रमणः ।
कर्म मलमलिन चित्तः तिर्यगालय भाजनं पापः ॥

अर्थ—भाव लिंग ही दिव्य (स्वर्ग) और शिव सुख का पात्र होता है। और जो भाव रहित मुनि है उसका चित्त कर्ममल कर मलिन है वह पापाश्रव करता हुवा तिर्यञ्च गति का पात्र होता है।

खयरामरमणुयाणं अंजलिमालाहिंसंथुया विउला ।
चक्कहर रायलच्छी लब्भइ वोहि सभावेण ॥७५॥

खचरामरमनुजानाम् अञ्जुलिमालाभिः संस्तुताविपुला ।
चक्रधरराज लक्ष्मीः लभ्यते बोधिं स्व भावेन ॥

अर्थ—आत्मीक भावों के निमित्त से यह जीव चक्रवर्ती की

ऐसी उत्तम राजलक्ष्मी को पाता है जो विद्याधर देव और मनुष्यों के समूह से संस्तुत की जाती है पूजी जाती है चक्रवर्ती की लक्ष्मी ही नहीं किंतु बोधि (रत्नत्रय) को भी पावे है।

भावंत्तिविहिपयारं सुहासुहं शुद्धमेव णायव्वं ।

असुहं च अट्टरुद्दं सुहधम्मं जिणवरिंदेहिं ॥७६॥

भावं त्रिविधिप्रकारं शुभाशुभं शुद्धमेव ज्ञातव्यम् ।

अशुभं च आर्तरौद्रं शुभं धर्म्मं जिन वरेन्द्रैः ॥

अर्थ—जिनेन्द्रदेव ने भाव तीन प्रकार का कहा है शुभ, अशुभ और शुद्ध, तिन में आर्तरौद्र तो अशुभ और धर्म्म भाव शुभ जानना—

सुद्धं सुद्धसहावं अप्पा अप्पम्मि तच्चणायव्वं ।

इदि जिणवरेहिं भणियं जं सेयं तं समारुयह ॥७७॥

शुद्धं शुद्ध स्वभावं आत्माआत्मनि तच्च ज्ञातव्यम् ।

इति जिनवरैर्भणितं यत् श्रेयः तत् समारोहय ॥

अर्थ—जो शुद्ध (कर्म मल रहित) है वह शुद्ध स्वभाव है वह आत्मस्वरूप में ही है ऐसे जिनवरदेव का कहा हुवा जानना॥ भो भव्यो ? तुम जिस को उत्तम जानो उसको धारण करो। अर्थात्। आर्तरौद्र रूप अशुभ भावों को छोड़ कर धर्म ध्यान रूपी शुभ भावों का अवलम्बन कर शुद्ध होवो॥

पयलियमाणकसाओ पयलिय मिच्छत्त मोहसमचित्तो ।

पावइ तिहुयण सारं बोहिं जिण सासणे जीओ ॥७८॥

प्रगलितमान कषाय. प्रगलितमिथ्यात्व मोहसमचित्तो ।

प्राप्नोति त्रिभुवनसारां बोधिं जिन शासने जीवः ॥

अर्थ—जिसने मान कषाय दूर कर दिया है मान कषाय और समचित्त होकर अर्थात् महल मसान और शत्रु मित्र आदिक को समान गिनते हुवे अत्यन्त नष्ट किया है मिथ्यात्व तथा मोह जिस ने वह जीव ऐसी बोधिको प्राप्त करता है जो त्रिलोक में उत्तम है ऐसा जिन शास्त्रों में कहा है।

विसयविरत्तो समणो छद्दसवरकारणाइ भाऊण ।
तित्थयरणामकम्म बंधइ अइरेण कालेण ॥७९॥

विषयविरक्तः श्रमणः षोडशवर कारणानि भावयित्वा ।
तीर्थंकरनाम कर्म बध्नाति अचिरेण कालेन ॥

अर्थ—मुनि विषयों से विरक्त सोलह कारण भावनाओं को भायकर थोड़े कालमें ही तीर्थंकर नाम कर्म का बन्ध करता है सोलहकारण भावना इस प्रकार हैं।

दर्शनविशुद्धि १ विनय संपन्नता २ शीलव्रतेश्वनीतीचार ३ अभीक्ष्णज्ञानोपयोग ४ संवेग ५ शक्तिस्त्याग ६ शक्तितस्तप ७ साधुसमाधि ८ वैयावृत्यकरण ९ अर्हद्भक्ति १० आचार्यभक्ति ११ बहुश्रुतभक्ति १२ प्रवचनभक्ति १३ आवश्यकापरिहाणि १४ मार्गप्रभावना १५ प्रवचनवत्सलत्व १६ ।

वारस विहतवयरणं तेरसकिरियाओ भाव तिविहेण ।
धरहि मण मत्त दुरियं णाणांकुसएण मुणियवरं ॥८०॥

द्वादशविध तपश्चरणं त्रयोदश क्रियाः भावय त्रिविधेन ।
धारय मनोमत्तदुरितं ज्ञानाङ्कुशेन मुनिवर ॥

अर्थ—भो मुनिवर ? तुम बारह प्रकार के तपश्चरणको और तेरह प्रकार की क्रियाओं को मन वचन और काय कर धारण करो और मन रूपी पापिष्ट हस्ती को ज्ञानरूपी अंकुश कर बश करो ।

पांच महाव्रत, पांच समिति, और तीन गुप्ति यह १३ प्रकार की क्रिया हैं।

पञ्चविहचेलचायं खिदिसयणं दुविह संजमं भिक्खं ।
भावं भाविय पुव्वं जिणलिङ्गं णिम्मलं सुद्धं ॥८१॥

पञ्चविधचेल त्यागः क्षितिशयनं द्विविध संयमं भिक्षा ।
भावं भावितपूर्वं जिनलिङ्गं निर्मलं शुद्धम् ॥

अर्थ—जिसमें पांचों प्रकार के अर्थात रेशम, रूई, ऊन, छाल चमड़ा, आदिक सब प्रकार के वस्त्रों का त्याग है, पृथिवी पर शयन

होता है दोनों प्रकार का संयम होता है और भिक्षा से पर घर भोजन किया जाता है और सब से पहले आत्मीक भावों को भावना रूप किया जाता है ऐसा निर्मल शुद्ध जिनलिङ्ग है।

जहरयणाणं पवरं वज्जं जहतरुवराण गोसीरं।
तह धम्माणं पवरं जिणधम्मं भाव भवमहणं ॥८२॥

यथा रत्नानां प्रवरं वज्रं यथा तरुवराणां गोशीरम्।
तथा धर्माणां प्रवरं जिनधर्मं भावय भवमथनम् ॥

अर्थ—जैसे समस्त रत्नों में अत्युत्तम वज्र (हीरा) है जैसे समस्त वृक्षों में उत्तम चन्दन है तैसेही समस्त धर्मों में अत्युत्तम जिनधर्म है जो कि संसार का नाश करने वाला है। उसको तुम भावो धारण करो।

पूयादि सुवयसहियं पुण्णंहिजिणेहिं सासणे भणियं।
मोह क्खोह विहीणो परिणामो अप्पणो धम्मो ॥ ८३ ॥

पूजादिषुव्रत सहितं पुण्यं हि जिनैः शासने भणितम्।
मोह क्षोभविहीनः परिणामः आत्मनो धर्मः ॥

अर्थ—व्रत (अणुव्रत) सहित पूजा आदिक का परिणाम पुण्य बन्ध का कारण है, ऐसा जिनेन्द्र देवने उपासकाध्ययन (श्रावकाचार) में कहा है, और जो मोह अर्थात् अहंकार ममकार वा रागद्वेष तथा क्षोभ से रहित आत्मा का परिणाम है वह धर्म है अर्थात मोक्ष का साक्षात कारण है।

सद्दहदिय पत्तेदिय रोचेदिय तहपुणोवि फासेदि।
पुण्णं भोयणिमित्तं णहुसो कम्मक्खयणिमित्तं ॥८४॥

श्रद्दधाति च प्रत्येति च रोचते च तथा पुनरपि स्पृशति।
पुण्यं भोगनिमित्तं न स्फुटं तत् कर्मक्षयनिमित्तम् ॥

अर्थ—जो पुण्य को धर्म जान श्रद्धान करता है अर्थात उसको मोक्ष का कारण समझ कर उसी में रुचि करता है और तैसेही आचरण करै है तिसका पुण्य भोग का निमित है कर्मक्षय होने का निमित्त नहीं है।

अप्पा अप्पम्मिरओ रायादिसुसयलदोस परिचित्तो ।
संसार तरणहेदु धम्मोत्ति जिणेहिं णिद्दिट्ठो ॥८५॥

आत्मा आत्मनि रतः रागादिषु सकलदोष परित्यक्तः ।
संसार तरण हेतुः धर्म इति जिनैः निर्दिष्टः ॥

अर्थ—राग द्वेषादिक समस्त दोषों से रहित होकर आत्मा का आत्मा में ही लीन होना धर्म है और संसार समुद्र से तरणे का हेतु है ऐसा जिनेंद्र देव ने कहा है।

अहपुण अप्पाणिच्छदि पुण्णाइं करोदि णि र वसेसाइं ।
तहविण पावदि सिद्धिं संसारत्थोपुणो भणिदो ॥८६॥

अथ पुनःआत्मा नेच्छति पुण्यानि करोति निर वशेषाणि ।
तथापि न प्राप्नोति सिद्धिं संसारस्थः पुनर्भणितः ॥

अर्थ—अथवा जो पुरुष आत्मा को नहीं जाने है और समस्त प्रकार के पुण्यों को अर्थात् पुण्य बन्ध के साधनों को करता है वह सिद्धि (मुक्ति) को नहीं पाता है संसार में ही रहे है ऐसा गणधर देवों ने कहा है।

एएण कारणेणय तं अप्पां सद्दहहतिविहेण ।
जेणय लहेह मोक्खं तं जाणिज्जह पयत्तेण ॥८७॥

एतेन कारणेन च तमात्मानं श्रद्धनात्रिविधेन ।
येन च लभध्वं मोक्षं तं जानीथ प्रयत्नेन ॥

अर्थ—आत्माही समस्त धर्मों का स्थान है इसी कारण तिस सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक् चारित्रमय आत्मा को मन वचन काय से श्रद्धान करो और उसको प्रयत्नकर जानो जिससे मोक्ष पावो।

मच्छोवि सालिसिच्छो असुद्धभावो गओ महाणरयं ।
इयणाउं अप्पाणं भावह जिण भावणा णिच्चं ॥८८॥

मत्स्योपि शालिशिच्छु अशुद्ध भावगतः महानरकम् ।
इति ज्ञात्वा आत्मानं भावय जिनभावनानित्यम् ॥

अर्थ–भो भव्य ? तुम देखो कि तन्दुल नामा मछ निरन्तर अशु- द्धपरिणामी होता हुआ सप्तम नरको में गया ऐसा जान कर अशुभ परिणाम मत करो, किन्तु निज आत्मा के जानने के लिये जिन भावना को निरन्तर भावो।

काकन्दी नगरी में शूरसेन राजाथा उसने सकल धार्मिक परि-जनों के अनुरोध से श्रावकों के अष्टमूल गुण धारणकिये पीछे वेदा-नुयायी रुद्रदत्त की सङ्गति से मांस भक्षण में रुचि की, परन्तु लोका पवाद से डरता था, एक दिन पितृ प्रिय नामा रसोइदार को मांस पकाने को कहा, और वह पकाने लगा, परन्तु भोजन समय में अनेक कुटम्बी और परिजन साथ जीमते थे इससे राजा को एकबार भी मांस भक्षण का अवसर न मिला, किंतु पितृप्रिय स्वामी के लिये प्रतिदिन मांस भोजन तैय्यार रखता था, एक दिन पितृप्रिय को सर्प के बच्चे ने डसा और वह मर कर स्वयंभूरमण द्वीप में महामत्स्य हुवा, । और मांसाभिलाषी राजा भी मरकर उसी महामत्स्य के कान में शालिसिक्थु मत्स्य हुवा ॥ जब वह महामत्स्य मुख फैला कर सोता था तब बहुत से जलचर जीव उसके मुख में घुसते और निकलते रहते थे, यह देख कर शालिसिक्थु यह विचारता था कि "यह महामत्स्य भाग्यहीन है जो मुख में गिरते हुवे भी जलचरों को नहीं खाता है यदि एसा शरीर मेरा होवे तो सर्व समुद्र को खाली कर देऊं। इस विचार से वह शालिसिक्थु समस्त जलचर जीवों की हिंसा के पापों से सप्तम नरक में नारक हुवा इससे आचार्य कहे हैं कि अ-शुद्ध भाव सहित बाह्य पाप करना तो नरक का कारण है ही परंतु बाह्य हिंसादिक पाप किये विना केवल अशुद्ध भाव भी उसी समान हैं इससे अशुभ भाव छोड शुभ ध्यान करना योग्य है।

बाहिर सङ्गचाओ गिरिसरिदरि कंदराइ आवासो।
सयलो णाणज्झयणो णिरत्थओ भावरहियाणं ॥८९॥

बाह्य सङ्गत्यागः गिरिसरिद्दरीकन्दरा दिआवासः।
सकलं ज्ञानाध्ययनं निरर्थको भावरहितानाम् ॥

अर्थ—शुद्ध भाव रहित पुरुषों का समस्त बाह्य परिग्रहों का त्याग, पर्वत नदी गुफा कन्दराओं में रहना और सर्व प्रकार की विद्याओं का पढ़ना व्यर्थ है मोक्ष का साधन नहीं है।

भंजसु इंदियसेणं भंजसु मणमक्कणं पयत्तेण ।
माजण रंजण करणं वाहिर वय वेसमाकुणसु ॥९०॥

भङ्ग्धि इन्द्रियसेनां भङ्ग्धि मनोमर्कटं प्रयत्नेन ।
मा जनरञ्जन करणं वाह्यव्रतवेश ? माकार्षीः ॥

अर्थ--भो मुने ? तुम स्पर्शन रसना घ्राण चक्षु और कर्ण इन्द्रिय रूपी सेना को वश करो और मनरूपी बन्दर को प्रयत्न से ताड़ना करो वश करो, भो वाह्य ही व्रतों को धारण करने वाले अन्य लोकों के मन को प्रसन्न करने वाले कार्यों को मत धारण करो।

णव णोकसायवग्गं मिच्छत्तंचय सुभाव सुद्धिए ।
चेइय पवयणगुरुणं करेहिं भत्ति जिणाणाए ॥९१॥

नवनोकषाय वर्गं मिथ्यात्वं त्यज भावशुद्धये ।
चैत्य प्रवचन गुरूणां कुरु भक्ति जिनाज्ञया ॥

अर्थ--भो साधो ? तुम आत्मीक भावों को निर्मल करने के लिये हास्यादिक ९ नो कषायों के समूह को और ५ मिथ्यात्व को त्यागो, और जिन प्रतिमा, जैन शास्त्र और दिगम्बर साधु जिन आज्ञानुसार इनकी भक्ति वन्दना पूजा वैयावृत्य करो।

तित्थयर भासियत्थं गणहरदेवेहि गंथियं सम्मं ।
भावहि अणुदिण अतुलं विसुद्ध भावेण सुयणाणं ॥९२॥

तीर्थंकर भाषितार्थं गणधरदेवैः ग्रन्थितं सम्यक् ।
भावय अनुदिनम् अतुलं विशुद्ध भावेन श्रुत ज्ञानम् ॥

अर्थ--उस अनुपम श्रुतज्ञान को तुम शुद्ध भाव कर निरन्तर भावो जिसमें श्री अर्हन्त देव का कहा हुवा अर्थ है और जिसको गणधर देवों ने रचा है—

पाऊण णाणसलिलं णिम्मह तिसडाह सोसउम्मुक्का ।
होंति सिवालयवासी तिहुवण चूडामणि सिद्धा ॥९३॥

प्राप्य ज्ञानसलिलं निर्मथ्या तृषादाह शोषोन्मुक्ताः ।
भवन्ति शिवालय वासिनः त्रिभुवन चूडामणयः सिद्धाः ॥

अर्थ—श्रुतज्ञान रूपी जल को पीकर जीव सिद्ध होते हैं, और तृषा (विषयाभिलाषा) दाह (संताप) शोष (रसादिहानि) जो कठिनता से नाश होने योग्य है इन से रहित हो जाते हैं तीन लोक के चूड़ामणि और शिवालय (मुक्त स्थान) के निवासी होते हैं।

दसदस दोइ परीसह सहहिमुणी सयलकाल काएण।
सुत्तेणं अप्पमत्तो संजयघादं पमोत्तूण ॥९४॥

दशदशद्वौमुपरीषहा सहस्व मुने सकलकाल कायेन।
सूत्रेण अप्रमतः संयमघातं प्रमोच्य ॥

अर्थ—भो मुने ! तुम प्रमाद (कषायादि) रहित होते हुवे जिन सूत्रों के अनुकूल सर्वकाल संयम के घात करने वालो बातों को छोड़ कर बाईस परीषहों को काया से सहो।

जहपच्छरोण भिज्जइ परिट्ठिओ दीहकाल मुदएण।
तह साहुण विभिज्जइ उवसग्ग परीसहेहिंतो ॥९५॥

यथा प्रस्तरो न भिद्यते परिस्थितो दीर्घकल उदकेन।
तथा साधुर्न विभिद्यते उपसर्ग परीषहेभ्यः ॥

अर्थ—जैसे पत्थर बहुत काल पानी में पड़ा हुवा भी पानी से गीला नहीं होता है, तैसे ही रत्नत्रय के धारक साधु उपसर्ग और परीषहाओं से क्षोभित नहीं होते हैं।

भावहि अणुपेक्खाओ अवरेपण वीस भावणा भावि।
भावरहिएण किंपुण वाहर लिङ्गेण कायव्वं ॥९६॥

भावय अनुप्रेक्षा अपरा पञ्चविंशति भावना भावय।
भावरहितेन किंपुनः वाहिर्लिङ्गेन कार्यम् ॥

अर्थ—भो साधो ? तुम अनित्यादि १२ भावनाओं को भावो, और पच्चीस भावनाओं को ध्यावो, भाव रहित वाह्य लिङ्ग कर क्या होता है अर्थात कुछ नहीं हो सक्ता—

सव्व विरओवि भावहि णवय पयत्थाइ सत्ततच्चाइं।
जीवसमासाइं मुणी चउदश गुणठाण णामाइं॥ ९७॥

सर्वे विरतोपि भावय नवचपदार्थान् सप्ततत्वानि ।
जीवसमासान् मुने ! चतुर्दश गुणस्थान नामानि ॥

अर्थ—भो मुने ? तुम सर्व प्रकार हिंसादिक पापों से विरक्त हो तब भी नव पदार्थ, सप्ततत्व, चौदह जीव समास और चौदह गुण स्थानों के स्वरूप को भावो (विचारो)

णवविहं वंभंपयडदि अव्वंभंदसविहं पमोत्तूण ।
मेहुण सणासत्तो भमिओसि भवणवे भीमे ॥९८॥

नवविधं ब्रह्मचर्यं प्रकटय अब्रह्मंदशविधं प्रमुच्य ।
मैथुन संज्ञाशक्तः भ्रमितोसि भवार्णवे भीमे ॥

अर्थ—भो साधो ? तुम दश प्रकार की काम अवस्था को छोड़ कर नव प्रकार से ब्रह्म चर्य को प्रकट करो, तुमने मैथुन लम्पटी होकर इस भयानक संसार में बहुत काल भ्रमण किया है स्त्री चिन्ता, स्त्री के देखने की इच्छा, निश्वास, ज्वर, दाह, भोजन में अरुचि, बेहोशी प्रलाप, जीने में संदेह और मरण यह दस अवस्था काम वेदना की है स्त्री विषयाभिलाषा त्याग १ अङ्ग स्पर्श त्याग २ कामो द्दीपकरसों का न खाना ३ स्त्री सेवित स्थान आदि पदार्थों को सेवन न करना ४ स्त्रियों के कपोलादिकों को न देखना ५ स्त्रियों का आदर सत्कार न करना ६ अतीत भोगों का स्मरण न करना ७ आगामी के लिये वांछा न करना ८ मनोभिलिषित विषयों का न सेवना ९ यह नौ प्रकार ब्रह्म चर्य ग्रहण के हैं—

भावसहिदोय मुणिणो पावइ आराहणा चउकंच ।
भावरहियो मुणिवर भमइ चिरं दीह संसारे ॥९९॥

भावसहितश्च मुनीनः प्राप्नोति अराधना चतुष्कं च ।
भावरहितो मुनिवरः भ्रमति चिरं दीर्घसंसारे ॥

अर्थ—जो मुनिपुङ्गव भावना सहित हैं ते चारों (दर्शन ज्ञान चरित्र और तप) आराधनाओं को पावे हैं (अर्थात) मोक्ष पावे हैं । और जो मुनिवर भाव रहित हैं ते इस दीर्घ (पंच परिवर्तन रूप) संसार में बहुत काल भ्रमें हैं ।

पावंति भावसवणा कल्लाणपरं पराइ सुक्खाइं ।
दुक्खाइं दव्व समणा णरतिरिय कुदेव जोणीए ॥१००॥

प्राप्नुवन्ति भावश्रमणाः कल्याण परम्पराय सुखानि ।
दुःखानि द्रव्यश्रमणाः नरतिर्यङ्कुदेवयोनौ ॥

अर्थ—भाव मुनिही गर्भ, जन्म, तप, ज्ञान और कल्यान रूपी पाञ्च कल्याणों के सुखों को पाते हैं और द्रव्य मुनि मनुष्यतिर्यंच और कुदेवों की योनि (गति) में दुःखों को पाते हैं।

छादाल दोषदूसिय असणं गसिऊ असुद्धभावेण ।
पत्तोसि महावसणं तिरिय गईए अणप्पवसो ॥१०१॥

षट्चत्वारिंशद्दोष दूषित मशनं ग्रसित्वाऽशुद्ध भावेन ।
प्राप्तोसि महाव्यसनं तिर्यग्गतौ अनात्मवशः ॥

अर्थ—भो मुने ! ४६ दोषयुक्त अशुद्ध भावों से आहार ग्रहण करने से तुमने तिर्यञ्च गतिमें परवश होकर छेदन भेदन भूख प्यास आदि महान दुःख उठाये हैं—

सचित्त भत्तपाणं गिद्धीदप्पेणधी पभुत्तूण ।
पत्तोसि तिव्वदुःखं अणाइकालेण तं चिंत्त ॥१०२॥

सचित्त भक्तपानं गृद्ध्यादर्पेण अधीप्रभुक्त्वा ।
प्राप्तोसि तीव्रदुःखं अनादिकालेनत्वं चिन्तय ॥

अर्थ—भो मुनिवर ? बिचार करो कि तुमने अज्ञानी होकर अत्यन्त अभिलाषा तथा अभिमान अर्थात उद्धत पने के साथ सचित्त (सजीव) भोजन पान करके दुःखों को अनादि काल से अनेक तीव्र दुःख उठाये हैं।

कंदंबीयं मूलंपुप्फं पत्तादि किं सचित्तं ।
असिऊण माणगव्वे भमिऊसि अणंत संसारे ॥१०३॥

कन्दं बीजं मूलं पुष्पं पत्रादि किंच स चित्तम् ।
अशित्वा मानेन गर्वेण भ्रमितोसि अनन्तसंसारे ॥

अर्थ—कन्द मूल बीज फूल पत्र इत्यादि सचित्त वस्तुओं को मान और गर्व से खाकर तुम अनन्त संसार में भ्रमे हो।

विणयं पंचपयारं पालहि मणवयण कायजोगेण।
अविणय णरासुविहियं तत्तोमुत्तिं णपावंति ॥१०४॥

विनयं पञ्चप्रकारं पालय मनोवचन काययोगेन।
अविनतनरा सुविहितां ततोमुक्तिं न प्राप्नोति ॥

अर्थ—तुम मन वचन काय से पांच प्रकार के विनय को धारण करो क्योंकि अविनयी मनुष्य तीर्थंकर पद और मुक्ति को नहीं पाता है!

णिय सत्तिए महाजस भत्तिरागेण णिच्च कालम्मि।
तं कुण जिणभत्तिपरं विज्जावच्चं दसवियप्पं ॥१०५॥

निजशक्त्यामहायशः भक्तिरागेण नित्यकाले।
त्वं कुरु जिनभक्तिपरं वैयावृत्यं दशविकल्पम् ॥

अर्थ—भो महाशय? तुम सर्वदा अपनी शक्ति के अनुसार भक्ति भाव के राग सहित दश प्रकार की वैयावृत को पालो जिस से तुम जिनेन्द्र की भक्ति में तत्पर होओ। आचार्य, उपाध्याय, तपस्वी, शैक्ष्य, गलान, गण, कुल, संघ और साधु यह दश भेद मुनियों के हैं इनकी वैय्यावृत्त करने से वैय्यावृत्त के दस भेद हैं।

जं किंञ्चिकयं दोसं मणवयकाएहि असुह भावेण।
त गरह गुरु सयासंगारवमायं च मोत्तूण ॥ १०६ ॥

यः काश्चित् दोषः मनवचनकायैः अशुभ भावेन।
तं गर्हय गुरुशकासे गारवं मायां च मुक्त्वा ॥

अर्थ—मन वचन काय से वा अशुभ परिणामों से जो कोई दोष किया गया हो तिसे गुरु के समीप बड़प्पन और मायाचार को छोड़ कर कहै अर्थात किये हुए दोषों की निन्दा करै।

दुज्जण वयण च डक्कं निट्ठुर कडुयं सहंति सप्पुरिसा।
कम्ममलणासणट्ठं भावेणय णिम्ममा सवणा ॥ ॥ १०७ ॥

दुर्जन वचन चपेटां निष्ठुर कटुकं सहन्ते सत्पुरुषाः ।
कर्ममल नाशनार्थं भावेन च निर्ममा श्रमणाः ॥

अर्थ—सज्जन मुनीश्वर निर्ममत्व होते हुए दुर्जनों के निर्दय और कटुक बचन रूपी चपेटों को कर्म रूपी मल के नाशने के अर्थ सहते हैं ।

पावं खवइ असेसं खमाइ परिमण्डिओय मुणिप्पवरो ।
खेयर अमर णराणं पसंसणीओ धुवं होई ॥ १०८ ॥

पापं क्षिपति अशेषं क्षमया परिमण्डितश्च मुनिप्रवरः ।
खेचरामरनराणां प्रशंसनीयो ध्रुवं भवति ॥

अर्थ—जो मुनिवर क्षमा गुण कर भूषित है वह समस्त पाप प्रकृतियों का क्षय करे है और विद्याधर देव तथा मनुष्यों कर अवश्य प्रशंसनीय होता है ।

इय णाऊण खमागुण खमेहि तिविहेण सयल जीवाणं ।
चिर संचिय कोहसिहीं वरखमसलिलेणसिंचेह ॥१०९॥

इति ज्ञात्वा क्षमागुण क्षमस्व त्रिविधेन सकलजीवान् ।
चिर संचित क्रोध शिखिनं वरक्षमा सलिलेन सिञ्च ॥

अर्थ—हे क्षमा धारक ऐसा जान कर मन बचन काय से समस्त जीवों पर क्षमा करो, और बहुत काल से एकत्री हुई क्रोध रूप अग्नि को उत्तम क्षमा रूप जल से बुझाओ ।

दिक्खा कालाईयं भावहि अवियार दंसणविसुद्धो ।
उत्तम वोहिणिमित्तं असार संसार मुणि ऊण ॥ ११० ॥

दीक्षाकालादीयं भावय अविचार दर्शनविशुद्धः ।
उत्तम वोधि निमित्तम् असार संसारं ज्ञात्वा ॥

अर्थ—हे निर्विचकी तुम सम्यग्दर्शन सहित हुए संसार की असारता को जान कर दीक्षा काल आदि में हुए विराग परिणामों को उत्तम बोधि की प्राप्ति के निमित्त भावो । भावार्थ मनुष्य दीक्षा

के ग्रहण समय तथा रोग और मरण के समय संसार देह भोगों से अत्यन्त वैरागी होता है उन वैराग्य परिणामों को सदा चिंतवन रखना चाहिये।

सेवहि चउविहलिङ्गं अब्भन्तरं लिङ्ग सुद्धिमावण्णो।
वाहिर लिङ्गमज्जं होइ फुडं भावरहियाणं ॥ १११ ॥
सेवस्व चतुर्विधं लिङ्गम् अभ्यन्तर लिङ्गशुद्धिमापन्नः।
वाह्यलिङ्गमकार्यं भवति स्फुटं भावरहितानां ॥

अर्थ—भो मुनि सत्तम ? अन्तरङ्ग लिङ्ग शुद्धि को प्राप्त हुए तुम चार प्रकार के लिङ्ग को धारण करो, क्योंकि भाव रहितों को वाह्य लिङ्ग अकार्य कारी है।

अहार भयपरिग्गह मेहुणसण्णाहि मोहि ओसि तुमं।
भमिओ संसार वणे अणाइ कालं अणप्प वसो ॥ ११२ ॥
आहार भयपरिग्रह मैथुन संज्ञाभिःमोहितोसि त्वम्।
भ्रमितः संसार वने अनादिकालमनात्म वशः ॥

अर्थ—भो मुनिवर ! तुम आहार भय मैथुन और परिग्रह इन संज्ञाओं में मोहित और पराधीन हुए अनादि काल से संसार वन में भ्रमे हो सो स्मरण करो।

वाहिरसयणातावण तरुमूलाईणि उत्तर गुणाणि।
पालहि भावविशुद्धो पयालाभं ण ईहन्तो ॥ ११३ ॥
वहिःशयनातापन तरुमूलादीन् उत्तरगुणान्।
पालय भावविशुद्धः प्रजालाभं न ईहमानः ॥

अर्थ—भो साधो ! तुम भाव शुद्ध होकर पूजा, प्रतिष्ठा, लाभ, आदि को न चाहते हुए चौड़े मैदान में सोना बैठना आतापन योग वृक्ष की जड़ में तिष्ठना आदि उत्तर गुणों को पालो। भावार्थ शीत काल में नदी सरोवरों के किनारे ग्रीष्म ऋतु में आतापन योग अर्थात् पर्वतों के शिखरों पर ध्यान करना और वर्षा काल में वृक्षों के नीचे तिष्ठना, तीनों उत्तर गुण हैं।

भावहि पढमं तच्चं विदियं तिदियं चउत्थ पञ्चमयं ।
तियरणसुद्धो अप्पं अणाइ णिहणं तिवग्गहरं ॥ ११४ ॥

भावय प्रथमं तत्वं द्वितीयं तृतीयं चतुर्थं पञ्चमकम् ।
त्रिकरणशुद्धः आत्मानम् अनादि निधनं त्रिवर्गहरम् ॥

अर्थ—भो मुने ? तुम प्रथम तत्त्व जीव को द्वितीय तत्त्व अजीव को तृतीय तत्त्व आश्रव का चतुर्थ तत्त्व बन्ध को पञ्चम तत्त्व संवर को तथा निर्जरा और मोक्ष तत्त्व को भावो इनका स्वरूप विचारो और मन वचन काय सम्बन्धी कृत कारित अनुमोदना को शुद्ध करते हुए अनादि निधन और त्रिवर्ग को अर्थात् धर्म अर्थ काम को नाशने वाले मोक्ष स्वरूप आत्मा को ध्याओ ।

जावण भावइ तच्चं जावण चिन्तेइ चिन्तणीयाइं ।
तावण पावइ जीवो जरमरणविवज्जियं ठाणं ॥ ११५ ॥

यावन्न भावयति तत्वं यावन्न चिन्तयति चिन्तनीयानि ।
तावन्न प्राप्नोति जीवः जरामरण विवर्जितं स्थानम् ॥

अर्थ—यह जीव जब तक सप्त तत्त्वों को नहीं भावे है और जब तक चिन्तने योग्य अनुप्रेक्षादिकों को नहीं चिन्तवे है तब तक जरा मरण रहित स्थान को अर्थात् निर्वाण को नहीं पावे है ।

पावं हवइ असेसं पुण्णमसेसं च हवइ परिणामा ।
परिणामादो बन्धो मोक्खोजिणसासणे दिट्ठो ॥ ११६

पापं भवति अशेषं पुण्यमशेषं च भवति परिणामात् ।
परिणामाद् बन्धः मोक्षो जिनशासने दृष्टः ॥

अर्थ—समस्त पाप वा समस्त पुण्य परिणामों से ही होते हैं तथा बन्ध और मोक्ष भी परिणामों से ही होता है ऐसा जिन शास्त्रों में कहा है ।

मिच्छत्त तह कसाया संजमजोगेहिं असुहलेसेहिं ।
बंधइ असुहं कम्मं जिणवयणपरम्मुहो जीवो ॥ ११७ ॥

मिथ्यात्वं तथा कषायाऽसंयम योगैरशुभलेश्यैः ।
बध्नाति अशुभं कर्म जिनवचनपराङ्मुखो जीवः ॥

अर्थ–जिन बचनों से पराङ्मुख हुआ जीव मिथ्यातत्व, कषाय असंयम, और योग और अशुभ लश्या से पाप कर्मों को बांधते हैं ।

तव्विवरीओ बंधइ सुहकम्मं भावसुद्धिमावण्णो ।
दुविह पयारं बंधइ संखेपेणेव वज्जरियं ॥ ११८ ॥

तद्विपरीतः बध्नाति शुभकर्म भावशुद्धिमापन्नः ।
द्विविधप्रकारं बध्नाति संक्षेपेणैव उच्चरितम् ॥

अर्थ–जिन बचनों के सम्मुख हुआ जीव भावों की शुद्धता सहित होकर दोनों प्रकार के बन्ध को बांधे है । ऐसा जिनेंद्र देव ने संक्षेप से वर्णन किया है । अर्थात् सम्यग्दृष्टि जीव यद्यपि पाप पुण्य कर्म दोनों को बांधे हैं ? तथापि पाप प्रकृतियों में मन्दरस पड़ता है ।

णाणावरणादीहिय अट्ठहि कम्मेहि वेढिओय अहं ।
दहि ऊण इण्हिपयडमि अणंत णाणाइ गुणचिन्ता ॥११९॥

ज्ञानावरणादिभिश्च अष्टाभिः कर्मभिः वेष्टितश्चाहम् ।
दग्ध्वा इमा प्रकृतीः अनन्तज्ञानादि गुण चेतना ॥

अर्थ—भो मुनिवर ? तुम ऐसा बिचार करो कि मैं ज्ञाना वरणादिक अष्ट कर्मों से और १४८ उत्तर प्रकृतियों से तथा असंख्याते उत्तरोत्तर प्रकृतियों से ढका हुआ हूँ । इन प्रकृतियों को भस्म कर अनन्त ज्ञानादि गुण मयी चेतना को प्रकट करूं ।

सीलसहस्सट्ठारस चउरासी गुणगणाण लक्खाई ।
भावहि अणुदिणु णिहिलं असप्पलावेण किं बहुणा ॥१२०॥

शीलसहस्राष्टादश चतुरशीति गुणगणानां लक्ष्याणि ।
भावय अनुदिनं निखिलं असत्प्रलापेन किं बहुना ॥

अर्थ–भो साधो ? तुम १८००० शीलों को और ८४००००० उत्तर गुणों को प्रति दिन ध्यावो अधिक ब्यर्थ कहने से क्या मिलता

है अर्थात् यह सारांश हम ने कह दिया है। भावार्थ—पर द्रव्य का ग्रहण करना कुशील है। और स्वस्वरूप मात्र का ग्रहण शील है। इस के भेद अठारह हजार हैं। मन बचन काय को कृत कारित अनुमत से गुणां (३ × ३ = ९) तिन को आहार भय मैथुन परिग्रह का त्याग इन ४ संज्ञाओं से गुणां (९ × ४ = ३६) तिन को पञ्चेन्द्रिय जय से गुणां (३६ × ५ = १८०) तिन को पृथिवी, जल, तेज, वायु, कायिक प्रत्येक, साधारण द्वीन्द्रिय त्रीन्द्रिय चतुरिन्द्रिय पञ्चेन्द्रिय इन १० प्रकार के जीवों की हिंसादि रूप प्रवर्तन के परिणामों का न करना तिन से गुणां (१८० × १० = १८००) तिन को उत्तम क्षमादि दश धर्मों से गुणां (१८०० × १०) = १८००० अठारह हजार हुये उत्तर गुणों के भेद ८४००००० हैं। ये गुण विभाव परिणामों के अभाव से होते हैं इस से उन विभाव परिणामों की संख्या कहते हैं। हिंसा १ अनृत २ स्तेय ३ मैथुन ४ परिग्रह ५ क्रोध ६ मान ७ माया ८ लोभ ९ जुगुप्सा १० भय ११ अरति १२ रति १३ मनो दुष्टता १४ वचन दुष्टता १५ काय दुष्टता १६ मिथ्यात्व १७ प्रमाद १८ पैशून्य १९ अज्ञान २० इन्द्रियों का अनिग्रह २१ यह दोष है। इन को अतिक्रम १ व्यतिक्रम २ अतीचार ३ अनाचार ४ से गुणो (२१ × ४ = ८४)। इनको पृथिवी १ अप २ तेज ३ वायु ४ प्रत्येक ५ साधारण ६ द्वीन्द्रिय ७ त्रीन्द्रिय ८ चतुरिन्द्रिय ९ पञ्चेन्द्रिय १० इनका परस्पर आरम्भ जनित घात १०० से गुणां (८४ × १०० = ८४००) इनको १० शील विराधना से अर्थात् स्त्री संसर्ग १ पुष्ट रस भोजन २ गन्धमाल्य ग्रहण ३ शयनासन ग्रहण ४ भूषण ५ गीत संगीत ६ धन संप्रयोग ७ कुशीलों का संसर्ग ८ राज सेवा ९ रात्रि संचरण १० से गुणां (८४०० × १० = ८४०००) इनको १० आलोचना दोषों से अर्थात् आकम्पित १ अनुमित २ दृष्ट ३ बादर ४ सूक्ष्म ५ छन्न ६ शब्दाकुल ७ बहुजन ८ अव्यक्त ९ तत्सेवी १० से गुणां (८४००० × १० = ८४००००) इनको उत्तम क्षमादि १० धर्मों से गुणां (८४०००० × १० = ८४०००००) चौरासी लाख उत्तर गुण होते हैं।

झायहि धम्मं सुक्कं अट्टं रउद्दं च झाणमुत्तूण।
रुद्द झाइयाइं इमेण जीवेण चिरकालं ॥१२१॥

ध्याय धर्म्यं शुक्लम् आर्तं रौद्रं च ध्यानं मुक्त्वा ।
आर्तरौद्रे ध्याते अनेन जीवेन चिरकालम् ॥

अर्थ—भो साधो ? तुम आर्त और रौद्र ध्यान को छोड़ कर धर्म्म और शुक्ल ध्यान को ध्यावो क्योंकि इस जीवने अनादि काल से आर्त और रौद्र ही ध्यान किये हैं।

जेकेवि दव्वसवणा इंदिय सुह आउला णछिंदंति।
छिंदंति भावसमणा झाण कुठारेहिं भवरुक्खं ॥ १२२ ॥

ये केपि द्रव्यश्रमणाः इन्द्रियसुखाकुलानाछिन्दन्ति ।
छिन्दन्ति भावश्रमणाः ध्यान कुठारेण भववृक्षम् ॥

अर्थ-जो इन्द्रिय सुख की अभिलाषा से आकुलित हुवे द्रव्य मुनि हैं वह संसार रूपी वृक्ष को नहीं छेदते हैं और जो भावलिङ्गी मुनि हैं वह धर्म्म ध्यान और शुक्ल ध्यान रूपी कुठार से संसार रूपी वृक्ष को छेदते हैं—

जह दीवो गब्भहरे मारुयवाहाविवज्जओ जलइ।
तह रायाणिल रहिओ झाणपईवो पवज्जलई ॥ १२३ ॥

यथा दीपः गर्भग्रहे मारुतबाधा विवर्जितो ज्वलति ।
तथा रागानिलरहितः ध्यानप्रदीपः प्रज्वलति ॥

अर्थ—जैसे गर्भ ग्रह अर्थात् भीतर के कोठे में रक्खा हुवा दीपक पवन की बाधा से बाधित नहीं होता हुवा प्रकाश करता है तैसेही मुनि के अन्तरङ्ग में जलता हुवा ध्यान दीपक राग रूपी पवन से रहित हुवा प्रकाशित होता है। भावार्थ । जैसे दीपक को पवन बुझा देती है तैसेही ध्यान को राग भाव नष्ट कर देते हैं। इससे ध्यान के वाञ्छकों को राग भाव न करना चाहिये ।

झायहि पंचवि गुरवे मंगल चउ सरण लोय परिपरिए।
णर सुरखेयर महिए आराहण णायगे वीरे ॥ १२४ ॥

ध्याय पञ्चापिगुरून् मङ्गल चतुःशरण लोकपरिवारितान् ।
नरसुरखेचरमहितान् आराधनानायकान् वीरान् ॥

अर्थ—भो साधो ? तुम पाँचो परमेष्ठी को ध्यावो जो कि मंगल स्वरूप सुख के कर्त्ता और दुःख के हर्ता हैं, चारशरण रूप हैं और लोकोत्तम हैं तथा मनुष्य देव विद्याधरों कर पूजित हैं और आराधनाओं अर्थात् दर्शन, ज्ञान, चरित्र और तप के स्वामी और कर्म शत्रुओं के जीतन में वीर हैं।

णाणमय विमल सीयल सलिलं पाऊण भविय भावेण।
वाहि जरमरण वेयण डाह विमुक्का सिवा होन्ति ॥१२५॥

ज्ञानमय विमल शीतल सलिलं प्राप्य भव्याः भावेन।
व्याधि जरामरणवेदना दाह विमुक्ता शिवा भवन्ति ॥

अर्थ—भव्यजीव ज्ञानमयी निर्मल शीतल जल को उत्तम भावों से पीकर रोग जरा, मरण, वेदना, दाह और संताप से रहित होकर सिद्ध होते हैं। भावार्थ। जैसे मनुष्य किसी उत्तम कूप के निर्मल ठंडे जल को पीकर शांत हो जाते हैं तैसे ही भव्यजीव ज्ञान को पाकर जन्म जरा मरण से रहित अविनाशी सिद्ध हो जाते हैं।

जह वीयम्मिय दट्ठे णविरोहइ अंकुरोय महीवीटे।
तह कम्मवीय दट्ठे भवंकुरो भाव सवणाणं ॥ १२६ ॥

यथा वीजे दग्धे नैव रोहति अंकुरश्च महीपीठे।
तथा कर्मवीजे दग्धे भवांकुरो भावश्रमणाणाम् ॥

अर्थ—जैसे बीज के दग्ध हो जाने पर पृथिवी पर अंकुर नहीं उगता है तैसेही भाव लिङ्गी मुनि के कर्म बीजों का नाश दग्ध हो जाने पर फिर संसार रूपी अंकुर पैदा नहीं होता है।

भाव सवणोवि पावइ सुक्खाइ दुक्खाइ दव्व सवणोय।
इय णाऊ गुण दोसे भावेणय संजुदो होहि ॥ १२७ ॥

भावश्रमणोऽपि प्राप्नोति सुखानि दुःखानि द्रव्यश्रमणश्च।
इति ज्ञात्वा गुणदोषान् भावेन च संयुतो भव।

अर्थ—भावलिङ्गी ही मुनि और श्रावक परमानन्द निराकुल सुख को पाता है, और द्रव्यलिङ्गी साधु दुःखों को ही पावे है, इनके गुण दोषों को जान कर भाव सहित होवो।

तित्थयरगणहराइं अब्भुदय परं पराइं सुक्खाइं ।
पावंति भावसहिआ संख च जिणेहिं वज्जारियं ॥ १२८ ॥
तीर्थं करगणधरादीनि अभ्युदय परम्पराय सुखानि ।
प्राप्नुवान्ति भावसहिताः संक्षेपः जिनैः उच्चरितः ॥

अर्थ–भाव लिङ्गी मुनि ही तीर्थंकर गणधर आदि अभ्युदय की परम्परा के सुखों को पाता है ऐसा संक्षेप रूप वर्णन जिनेन्द्रदेव ने कहा है ।

ते धण्णा ताणं णमो दंसण वरणाण चरणसुद्धाणं ।
भाव सहियाण णिच्चं तिविहेणय णट्ठमायाणं ॥ १२९ ॥
ते धन्या तेभ्योनमः दर्शनवरज्ञान चरणशुद्धेभ्यः ।
भाव सहितेभ्योनित्यं त्रिविधेन च नष्ट मायेभ्यः ॥

अर्थ–वे ही धन्य हैं उन्हीं को मन बचन काय से हमारा नमस्कार होवे जो दर्शन ज्ञान और चारित्र में शुद्ध हैं, भाव लिङ्गी हैं और मायाचार रहित हैं ।

रिद्धि मतुलं विउव्विय किंणर किंपुरुसअमरखयरेहिं ।
तेहिं विण जाइ मोहं जिण भावण भाविओ धीरो ॥१३०॥
ऋद्धि मतुलां विकृतां किंनरकिम्पुरुषामर खचरैः ।
तैरपि नयाति मोहं जिनभावनाभावितो धीरः ॥

अर्थ–जिनेन्द्र भावना अर्थात् सम्यक्त्व भावना में बसे हुए धीर पुरुष, किन्नर किंपुरुष कल्पबासी और विद्याधरों की विक्रिया रूप विस्तारी हुई अनुपम ऋद्धि को देखि मोहित नहीं होते हैं। अर्थात् सम्यग्दृष्टि पुरुष इन्द्रादिकों की विभूति को नहीं बांधे हैं।

किं पुण गच्छइ मोहं णरसुरसुक्खाण अप्पसाराणं ।
जाणन्तो पस्सन्तो चिन्तन्तो मोक्खमुणिधवलो ॥ १३१ ॥
किं पुनः गच्छति मोहं नरसुरसुखानामल्पसाराणाम् ।
जानन् पश्यन् चिन्तयन् मोक्षं मुनिधवलः ॥

अर्थ—वह उत्तम मुनि जो मोक्ष के स्वरूप को जानते हैं देखे हैं और विचारते हैं किसी प्रकार के संसारिक सुख को नहीं चाहते हैं तो अल्पसार वाले मनुष्य और देवों के सुख की चाहना कैसे करें।

उच्छरइ जाण जरओ रोयग्गी जाण डहइ देह उडिं ।
इंदिय वलं ण वियलइ ताव तुमं कुणइ अप्पहिअं ॥१३२॥

आक्रमति यावन्न जरा रोगाग्निः यावन्न दहति देह कुटिम् ।
इन्द्रिय वलं न विगिलते तावत् त्वं कुरु आत्महितम् ॥

अर्थ—भो मुने ! जब तक बुढ़ापा नहीं आवे रोग रूपी अग्नि जब तक देह रूपी घर को न जलावे और इन्द्रियों का बल न घटे तब तक तुम आत्महित करो।

छज्जीव छडायदणं णिच्चं मण वयण काय जोएहिं ।
कुण दय परिहर मुणिवर भावि अपुव्वं महासत्तं ॥१३३॥

षट्जीवषड्नायतनानां नित्यं मनो वचन काययोगैः ।
कुरु दयां परिहर मुनिवर ! भावय आर्थं महासत्व ॥

अर्थ—भो मुनिवर ? भो महासत्व ? तुम मन वचन काय से सर्वदा छे काय के जीवों पर दया करो, और षट अनायतनों को छोड़ो तथा उन भावों को चिन्तवो जो पहले नहीं हुए हैं।

दस विह पाणाहारो अणंत भवसायरे भमंतेण ।
भोयसुह कारणट्ठं कदोय तिविहेण सयल जीवाणं ॥१३४॥

दशविधप्राणाहारः अनन्त भवसागरेभ्रमता ।
भोगसुखकारणार्थं कृतश्च त्रिविधेन सकलजीवानाम् ।

अर्थ—भो भव्य ? अनन्त संसार में भ्रमण करते हुए तुम ने भोग सम्बन्धी सुख करने के लिये मन बचन काय से समस्त त्रस-स्थावर जीवों के दश प्रणों का आहार किया।

पाणि वहे हि महाजस चउरासी लक्ख जोणि मज्झम्मि ।
उप्पं जंत मरंतो पत्तोसि णिरं तरं दुक्खं ॥ १३५ ॥

प्राणिवधेहि महायशः चतुरशीति लक्षयोनिमध्ये ।
उत्पद्यमानो म्रियमाणः प्राप्तोसि निरन्तरं दुःखम् ॥

अर्थ—हे महायशसी तुम प्राणि हिंसा के निमित्त से चौरासी लाख योनियों में उपजते मरते हुए निरन्तर दुःखों को प्राप्त हुए हो।

जीवाणमभयदाणं देहि मुणी पाणि भूदसत्ताणं ।
कल्लाण सुह णिमित्तं परम्परा तिविह सुद्धाए ॥ १३६ ॥

जीवानामभयदानं देहि मुने प्राणिभूतसत्वानाम् ।
कल्याणसुखनिमित्तं परम्परात्रिविधसुद्ध्या ॥

अर्थ—भो मुने ? तुम सर्व जीवों को मन वचन काय की शुद्धि से अभय दान देवो ऐसा करना क्रम से तीर्थंकर सम्बन्धी पञ्च कल्याणों के सुख का निमित्त है।

असिय सयं करिय वाई अक्किरियाणं च होइ चुलसीदी ।
सत्तट्ठी अण्णाणी वैणइया होन्ति वत्तीसा ॥ १३७ ॥

अशीति शतं क्रियावादिनामक्रियाणां च भवति च चतुरशीतिः।
सप्तषष्टिरज्ञानिनां वैनयिकानां भवन्ति द्वात्रिंशत् ॥

अर्थ—मिथ्यात्व दो प्रकार है ग्रहीत और अग्रहीत। ग्रहीत के ४ भेद हैं, क्रियावादी १ अक्रियावादी २ अज्ञानी ३ और वैनेयिक ४ तिनके भी क्रमसे १८०।८४।६७ और ३२ भेद हैं यह सर्व ३६३ पाखण्ड ग्रहीत मिथ्यात्व हैं। और जो मिथ्यात्व अनादि काल से जीव को लगा हुवा है वह अग्रहीत हैं

णमुयइ पयडि अभव्वो सुट्ठुवि आयण्णिऊण जिणधम्मं ।
गुणदुद्धंविपिवंता णपण्णया णिव्विसा होन्ति ॥ १३८ ॥

न मुञ्चति प्रकृतिमभव्यः सुष्टुअपि आकर्ण्य जिनधर्मम् ।
गुडदुग्धमपि पिवन्तः न पन्नगा निर्विषा भवन्ति ॥

अर्थ—अभव्यजीव जिनधर्म को उत्तम प्रकार सुन कर भी अपनी प्रकृति को अर्थात् मिथ्यात्व को नहीं छोड़ता है। जैसे शक्कर से मिले हुवे दूध को पीता हुवा भी सर्प ज़हर नहीं छोड़ देता है।

मिच्छतछण्णदिट्ठी दुद्धीए रागगहगहिय चितेहिं।
धम्मं जिणपणत्तं अभव्वजीवो ण रोचेदि ॥ १३९ ॥

मिथ्यात्वछन्नदृष्टिः दुर्द्धी रागग्रहग्रहीत चित्तैः।
धर्मं जिनप्रणीतम् अभव्यजीवो न रोचयति ॥

अर्थ—मिथ्यात्व से ढका हुआ है दर्शन जिसका ऐसा दुर्बुद्धि अभव्य जीव राग रुपी पिशाच से पकड़े हुवे मन के कारण जिनेन्द्र प्रणीत धर्म में रुचि नहीं करता है।

कुच्छिय धम्मम्मिरओ कुच्छिय पाखण्डिभत्ति संजुत्तो।
कुच्छिय तपं कुणन्तो कुच्छिय गइ भायणो होई ॥ १४० ॥

कुत्सित धर्म्मेरतः कुत्सितपाखण्डि भक्ति संयुक्तः।
कुत्सिततपः कुर्वन् कुत्सितगति भाजनं भवति ॥

अर्थ—जो कुत्सित, निन्दित धर्म में तत्पर है, खोटे पाखण्डियों की भक्ति करता है और खोटे तप करता है वह खोटी गति पाता है।

इयमिच्छत्तावासे कुणय कुसच्छेहि मोहिओ जीवो।
भमिओ अणाइ कालं संसार धीरे चिंतेहि ॥१४१॥

इति मिथ्यात्वावासे कुनय कुशास्त्रैः मोहितो जीवः।
भ्रान्तः अनादि कालं संसारे धीर चिन्तय ॥

अर्थ—इस प्रकार कुनयों और पूर्वापर विरोधों से भरे हुवे कुशास्त्रों में मोहित हुवे जीवने अनादि काल से मिथ्यात्व के स्थान रूपी संसार में भ्रमण किया सो हे धीर पुरुषों ? तुम विचारो

पाखंडीतिणिसया तिसाट्ठि भेयाउमग्ग मुत्तूण।
रुंभाहि मण जिणमग्गे असप्पलावेणाकिं वहुणा ॥१४२॥

पाखण्डिनः त्रिणिशतानि त्रिषष्ठिःभेदा तन्मार्गं मुक्त्वा ।
रुन्द्धि मनो जिनमार्गे असत्प्रलापेन किं वहुना ॥

अर्थ—भो आत्मन् ? तुम ३६३ तीन से तिरेषठ पाखण्डी मार्ग को छोड़कर अपने मन को जिन मार्ग में स्थापित करो यह संक्षेप वर्णन कहा है निरर्थक बहुत बोलने से क्या होता है।

जीव विमुक्को सवओ दंसण मुक्कोय होइ चलसवओ ।
सवओ लोय अपुज्जो लोउत्तरयम्मि चल सवओ ॥१४३॥

जीवविमुक्तः शवः दर्शनमुक्तश्च भवति चलशवकः ।
शवको लोकापूज्यः लोकोत्तरे चलशवकः ॥

अर्थ—जीव रहित शरीर को शव (मुरदा) कहते हैं और सम्यग्दर्शन रहित जीव चलशव अर्थात् चलने फिरने वाला मुरदा है, लोक में मृतक अनादरणीय अर्थात् पास रखने योग्य नहीं है उसको जला देते हैं या गाड़ देते हैं तैसे ही चलशव अर्थात् मिथ्या दृष्टि जीव का लोकोत्तर में अर्थात् परभव में अनादर होता है भावार्थ नीच गति पाता है।

जह तारायण चंदो मयराओ मयकुलाण सव्वाणं ।
अहिओ तहसम्मत्तो रिसि सावय दुविहधम्माणं ॥१४४॥

यथा तारकाणां चन्द्रः मृगराजो मृगकुलानां सर्वेषाम् ।
अधिकः तथा सम्यक्त्वम् ऋषिश्रावक द्विविधधर्माणाम् ॥

अर्थ—जैसे ताराओं के मध्य में चन्द्रमा प्रधान है और जैसे समस्त बन के पशुओं में सिंह प्रधान है तैसे मुनि श्रावक सम्बन्धी दोनों प्रकार के धर्मों में सम्यक्त्व प्रधान है।

जह फणिराओ रेहइ फणमणि माणिक्ककिरण परिप्फिरिओ
तह विमलदंसणधरो जिणभत्ती पवयणे जीवो ॥१४५॥

यथा फणिराजो राजते फणमणि माणिक्यकिरणपरिस्फुरितः
तथा विमलदर्शनधरः जिनभक्तिः प्रवचने जीवः ॥

अर्थ—नाग कुमारों के इन्द्र को फणिराज कहते हैं उसके सह-स्रफण हैं प्रत्येक फण में मणि हैं परंतु मध्य के फण में माणिक मणि सर्वोत्तम है उसकी किरणों से विस्फुटित हुआ फणिराज शोभायमान होता है तैसे ही निर्मल सम्यग्दर्शन का धारक जिनेन्द्रभक्त जीव जैनसिद्धान्त में शोभायमान होता है।

जहतारायणसहियं ससहरबिम्बं खमण्डले विमले।
भाविय तव वय विमलं जिणलिङ्गं दंसण विसुद्धं ॥१४६॥

यथा तारागणसहितं शशधरबिम्बं खमण्डले विमले।
भावित तपोव्रतविमलं जिनलिङ्गं दर्शन विशुद्धम् ॥

अर्थ—जैसे निर्मल आकाश में तारागण सहित चन्द्रमा का बिम्ब शोभायमान होता है तैसे ही जिनमत में तपश्चरण और व्रतों से निर्मल तथा सम्यग्दर्शन से शुद्ध ऐसा जिन लिङ्ग (दिगम्बर वेष) शोभित होता है।

इयणाउं गुणदोसं दंसणरयणं धरेह भावेण।
सारंगुणरयणाणं सोवाणं पढम मोक्खस्स ॥१४७॥

इति ज्ञात्वा गुणदोषं दर्शनरत्नं धरतभावेन।
सारं गुणरत्नानां सोपानं प्रथमं मोक्षस्य ॥

अर्थ—भो भव्यजनो ? आप इस प्रकार सम्यक्त्व और मि-थ्यात्व के गुण और दोषों को जान कर सम्यग्दर्शन रुपी रत्न को भाव सहित धारण करो जो कि समस्त गुण रत्नों में सार (प्रधान) है और मोक्ष मन्दिर की प्रथम सीढी है।

कत्ता भोइ अमुत्तो सरीरमित्तो अणाइणिहणोय।
दंसणणाणउओगो णिद्दिट्ठोजिणवरिंदेहिं ॥१४८॥

कर्त्ता भोगीअमूर्तः शरीरमात्रः अनादिनिधनश्च:।
दर्शनज्ञानोपयोगः निर्दिष्टो जिनवरेन्द्रैः ॥

अर्थ— यह जीव शुभ अशुभ कर्मों का तथा आत्मीक भावों का कर्त्ता है, उन कर्मों के फलों का तथा आत्मीक परिणामों का भोगने वाला है अमूर्तीक है शरीर प्रमाण है अनादिनिधन (अनादि अनन्त) है और दर्शनोपयोग और ज्ञानोपयोग सहित है।

दंसणणाणावरणं मोहणियं अंतराइयं कम्मं।
णिट्ठविइभविय जीवो सम्मं जिणभावणाजुत्तो ॥१४९॥

दर्शन ज्ञानावरणं मोहनीयमन्तरायं कर्म।
निष्टापति भव्यजीवः सम्यग्जिनभावनायुक्तः॥

अर्थ— समीचीन जिन भावना सहित भव्य जीव ज्ञानावरण, दर्शनावरण, मोहनीय, और अन्तराय इन चारों घाति या कर्मों का नाश करते हैं।

बलसौक्ख णाणदंसण चत्तरिवि पायडागुणाहोंति।
णट्ठघाइचउक्के लोयालोयं पयासेदि ॥१५०॥

बलसौख्यं ज्ञानंदर्शनं चत्वारोपि प्रकटा गुणा भवन्ति।
नष्टे घातिचतुष्के लोकालोकं प्रकाशयति॥

अर्थ—उन घातिया कर्मों के नाश होने पर अनन्तबल अनन्तसुख अनन्तज्ञान अनन्तदर्शन यह आत्मीक चारोंगुण प्रकट होते हैं और उनके ज्ञान में लोक अलोक प्रकाशित होते हैं।

णाणीसिव परमेट्ठी सव्वण्हू विण्हु चउमुहो बुद्धो।
अप्पोवियपरमप्पो कम्मविमुक्कोय होइफुडम् ॥१५१॥

ज्ञानीशिवः परमेष्ठी सर्वज्ञोविष्णुः चतुर्मुखोबुद्धः।
आत्मापि च परमात्मा कर्मविमुक्तश्च भवति स्फुटम्॥

अर्थ—यह संसारी आत्मा ही सम्यग्दर्शनादिक के निमित्त से कर्म बन्ध रहित होकर परमात्मा होता है जिसको ज्ञानी, शिव, परमेष्ठी, सर्वज्ञ, विष्णु, चतुर्मुख, बुद्ध, कहते हैं।

इयघाइकम्ममुक्को अट्ठारसदोस वज्जिओ सयलो ।
तिहुवण भवण पईवो देउमम उत्तमं वोहं ॥१५२॥

इति घातिकर्ममुक्तः अष्टादशदोषवर्जितः सकलः ।
त्रिभुवन भवनप्रदीपः ददातु मह्यमुत्तमं बोधम् ॥

अर्थ—इस प्रकार घातिया कर्मों से रहित, क्षुधादिक अठारह दोषों से वर्जित परमौदारिक शरीर सहित और त्रिलोक रूपी मन्दिर के प्रकाशने में दीपक के समान श्रीअर्हंत देव मुझे उत्तम बोध देवो।

जिणवर चरणांबुरुहं णमंतिजे परमभत्तिएएण ।
तेजम्मवेल्लिमूलं खणन्ति वरभावसच्छेण ॥१५३॥

जिनवर चरणाम्बुरुहं नमन्तिये परमभक्तिरागेन ।
तेजन्मवल्लीमूलं खनन्ति वरभावशस्त्रेण ॥

अर्थ—जो भव्यजीव परम भक्ति और अपूर्व अनुराग से जिनेन्द्रदेव के चरण कमलों को नमस्कार करते हैं ते पुरुष उत्तम परिणाम रूपी हथियार से संसार रूपी बेलि की जड़ को खोदते हैं अर्थात् मिथ्यात को नाश करते हैं।

जहसलिलेण णलिप्पइ कमलिणिपत्तं सहावपयडीए ।
तह भावेण णलिप्पइ कसाय विसएहिं सप्पुरुसो ॥१५४॥

यथा सलिलेन न लिप्यते कमलिनीपत्रं स्वभावप्रकृत्या ।
तथा भावेन नलिप्यते कषायविषयैः सत्पुरुषः ॥

अर्थ—जैसे कमलिनी के पत्र को स्वाभाव से ही जल नहीं लगता है तैसे ही सत्पुरुष अर्थात् सम्यग्दृष्टि जिन भक्ति भाव सहित होने से कषाय और विषयों में लिप्त नहीं होते हैं।

तेविय भणामिहंजे सयल कलासीलसंजमगुणेहिं ।
बहुदोसाणावासो सुमलिण चित्तोणसावयसमोसो ॥१५५॥

तेनापि भणामिअहं ये सकलकलाशील संयमगुणैः ।
बहुदोषाणामावासः सुमलिनचित्तः न श्रावकसमः सः ॥

अर्थ—हम उनही को मुनि कहते हैं जो समस्त कला शील और संयम आदि गुणों सहित हैं । और जो बहुत दोषों के स्थान हैं और अत्यन्त मलिन चित्त हैं वे बहुरूपिये हैं श्रावक समान भी नहीं हैं।

ते धीर वीर पुरुसा खमदमखग्गेणविप्फुरंतेण ।
दुज्जय पवलबलुद्दर कसायभडणिज्जिया जेहिं ॥१५६॥

ते धीर वीर पुरुषाः क्षमादमखड्गेन विस्फुरता ।
दुर्जय प्रबलबलद्धर कषाय भटा निर्जिता यैः ॥

अर्थ—वही धीर वीर पुरुष हैं जिन्हों ने क्षमा, दम रुपी तीक्ष्ण खड्ग (तलवार) से कठिनता से जीतेजाने योग्य बलवान और बल से उद्धत ऐसे कषाय रूपी सुभटों को जीत लिया है । भावार्थ जो कषायों को जीतते हैं वह महान योधा हैं, संग्राम में लड़ने वाले योधा नहीं हैं—

धण्णाते भयवान्ता दंसण णाणग्गपवरहच्छेहिं ।
विसय मयरहरपडिया भवियाउत्तरियाजेहिं ॥१५७॥

धन्यास्ते भयवान्ता दर्शनज्ञानाग्रप्रवरहस्ताभ्याम् ।
विषयमकरधरपतिताः भव्याउत्तारितायैः ॥

अर्थ—विषय रूपी समुद्र में डूबे हुए भव्य जीवों को जिन्होंने दर्शन ज्ञान रूपी उत्तम हाथों से निकाल कर पार किया है वे भय रहित भगवान धन्य हैं प्रशंसनीय हैं।

मायावेल्लि असेसा मोहमहातरुवरम्मिआरूढा ।
विसय विसफुल्लफुल्लिय लुणंति मुणिणाणसच्छेहिं ॥१५८॥

मायावल्लीमशेषां मोहमहातरुवरे आरुढाम् ।
विषय विषपुष्पपुष्पितां लुनन्तिमुनयः ज्ञानशस्त्रैः ॥

अर्थ—दिगम्बर मुनि समस्त मायाचार रूपी बेलि को जो मोह रूपी महान वृक्ष पर चढ़ी हुई है और विषय रूपी जहरीले फूलों से फूली हुई है सम्यग ज्ञान रूपी शस्त्र से काटते हैं।

मोहमयगारवेहिं यमुक्काजे करुण भावसंजुत्ता ।
ते सव्वदुरियखंभं हणंति चारित्तखग्गेण ॥१५९॥

मोहमदगारवैः च मुक्काये करुणाभावसंयुक्ताः ।
ते सर्वदुरितस्तंभं ध्नन्ति चारित्र खड्गेन ॥

अर्थ—मोह अर्थात् पुत्र मित्र कलित्र धन आदि पर वस्तुओं में स्नेह करना। मद अर्थात् ज्ञान आदि के प्राप्त होने पर गर्व करना। गारव अर्थात् अपनी बड़ाई प्रकट करना, जो मुनिवर इन से अर्थात् मोह मद गारव से रहित हैं और करुणा भाव सहित हैं वेही मुनि चारित्र रूपी खड्ग से समस्त पाप रूपी स्तम्भ को हनें हैं।

गुणगणमणिमालाए जिणमयगयणेणि सायरमुणिदो ।
तारावलि परि कालिओ पुण्णिम इंदुव्व पवणयहे ॥१६०॥

गुणगण मणि मालया जिनमत गगने निशाकर मुनीन्द्रः ।
तारावलि परिकलितः पूर्णिमेन्दुरिव पवनपथे ॥

अर्थ—जैसे आकाश में तारा नक्षत्रों से वेष्टित पूर्णमासी का चन्द्रमा शोभायमान होता है तैसे ही जिन शासन रूपी आकाश में गुण समूह अर्थात् २८ मूल गुण १० धर्म ३ गुप्ति ८४ लाख उत्तर गुण की मणिमाला से मुनीश्वर रूपी चन्द्रमा शोभायमान होते हैं।

चक्कहर राम केसव सुरवर जिण गणहराइ सौक्खाइं ।
चारण मुणिरिद्धिओ विसुद्ध भावाणरा पत्ता ॥१६१॥

चक्रधरराम केशव सुरवर जिनगणधरादि सौख्यानि ।
चारण मुणि ऋद्धीः विशुद्ध भावा नरा प्राप्ताः ॥

अर्थ—विशुद्ध भावों के धारक मुनिवर ही चक्रवर्ती, राम, वासुदेव, इन्द्र, अहमिन्द्र, अर्हन्त, गणधर, आदि उत्तम पदों के सुखों को तथा चारण मुनियों की ऋद्धि (आकाशगामिनी आदि ६४ ऋद्धि) को प्राप्त हुवे हैं।

सिव मजरामरलिंग मणोवम मुत्तमपरम विमलमतुलं ।
पत्तावर सिद्धिसुहं जिण भावण भाविया जीवा ॥१६२॥

शिवमजरामर लिङ्ग-मनुपम मुत्तमं परमविमल मतुलम् ।
प्राप्ता वरं सिद्धिसुखं जिन भावना भाविता जीवाः ॥

अर्थ—जो जिन भावना सहित हैं ते ही जीव उस उत्तम मोक्ष सुख को पाते हैं जोकि कल्याण स्वरुप हैं, जरा और मरण रहित होना जिसका चिह्न है, जो उपमा रहित है, उत्तम है अत्यन्त निर्मल और अनन्त है,

तेमे तिहुवण महिया सिद्धासुद्धाणिरंजणाणिच्चा ।
दिंतु वरभाव सुद्धिं दंसणणाणे चरित्तेय ॥१६३॥

ते मे त्रिभुवन महिता सिद्धा शुद्धा निरञ्जनानित्या ।
ददतु वरभावशुद्धिं दर्शनज्ञाने चारित्रे च ॥

अर्थ—जो कर्ममल से शुद्ध हो चुके हैं और नवीन कर्म बन्ध रहित हैं नित्य हैं और तीनों जगत में पूज्य हैं ते जगत प्रसिद्ध सिद्ध परमेष्ठी मेरे दर्शन ज्ञान और चारित्र में उत्तम भावशुद्धि देवें ।

किं जंपिएण वहुणा अच्छोधम्मोय काममोक्खोय ।
अण्णेविय वावारा भावम्मि परिट्ठया सुद्धे ॥१६४॥

किं जल्पितेन बहुना अर्थोधर्मश्च कामोमोक्षश्च ।
अन्येपि च व्यापारः भावपरिस्थिताःशुद्धे ॥

अर्थ—बहुत कहने से क्या अर्थ [धन संपत्ति] धर्म [मुनि श्रावकधर्म] काम [पञ्चेन्द्रिय सुख दायक इष्ट भोग] मोक्ष [समस्त कर्मों का अत्यन्त अभाव] इत्यादि अन्य भी व्यापार ते सर्व ही शुद्ध भावों में तिष्ठे हैं अर्थात् शुद्ध भाव होने से ही सिद्ध हो सकते हैं अशुद्ध भावों से नहीं ।

इयभावपाहुडमिणं सव्वबुद्धेहिं देसियं सम्मं ।
जो पढइ सुणइ भावइ सो पावइ अविचलं ठाणं ॥१६५॥

इति भावप्राभृतमिदं सर्वबुद्धैः देशितं सम्यक् ।
यः पठति शृणोति भवयति सम्प्राप्नोति अविचलं स्थानम् ॥

अर्थ—इस प्रकार यह भाव प्राभृत श्रीसर्वज्ञदेव ने सम्यक् प्रकार उपदेशा है तिसको जो भव्य जीव पढ़े हैं सुने हैं भावना करे हैं वह अविचल स्थान अर्थात् [मोक्ष स्थान] को पावे हैं।



छटा पाहुड़।

मोक्षप्राभृतम्।

णाणमयं अप्पाणं उपलद्धं जेण झडिय कम्मेण।
चइऊणय परदव्वं णमोणमो तस्स देव्वस्स ॥ १ ॥

ज्ञानमय आत्मा उपलब्धो येन क्षितकर्मणा।
त्यक्त्वा च परद्रव्यं नमोनमस्तस्मै देवाय ॥

अर्थ—क्षय कर दिये हैं द्रव्यकर्म भावकर्म और नो कर्म जिस ने ऐसा जो आत्मा परद्रव्यों को छोड़कर ज्ञानमय आत्मस्वरूप को प्राप्त हुआ है तिस आत्मस्वरूप देव को मेरा नमस्कार होवो।

णमिऊण य तं देवं अणन्तं वरणाण दंसणं सुद्धं।
वोच्छं परमप्पाणं परमपयंपरम जोईणं ॥ २ ॥

नत्वा च तं देवं अनन्तवरज्ञानदर्शनं शुद्धम्।
वक्ष्ये परमात्मानं परमपदं परमयोगिनाम् ॥

अर्थ—अनन्त और उत्तम है ज्ञानदर्शन जिनमें, शुद्ध परमात्म-स्वरूप और उत्कृष्ट है पद जिनका ऐसे देव को नमस्कार करके परमयोगियों के प्रति शुद्ध अनन्तदर्शन ज्ञानस्वरूप और उत्कृष्ट पदधारी ध्येयरूप परमात्मा का वर्णन करूंगा।

जं जाणऊण जोई जो अच्छो जोइऊणअणवरयं।
अव्वावाहमणंतं अणोवमं हवइ णिव्वाणं ॥ ३ ॥

यद् ज्ञात्वा योगी यमर्थं युक्त्वाऽनवरतम्।
अव्याबाधमनन्तम् अनुपमं भवति निर्वाणम् ॥

अर्थ—योगी जिस परमात्मा को जानकर और उस परमतत्व को निरन्तर ध्यान में लाकर निर्बाध अनन्त और अनुपम ऐसे निर्वाण (मोक्ष) को पाते हैं। अर्थात् उस परमात्म ध्यान से मुक्ति होती है।

ति पयारो सो अप्पा परमन्तर बाहिरोहु देहीणं।

तच्छपरो झाइज्जइ अन्तोवाएण चयहि वहिरप्पा ॥ ४ ॥

त्रिप्रकारः स आत्मा परमन्तरबहिः स्फुटं देहीनाम्।

तत्र परं ध्यायस्व अन्तरुपायेन त्यज वहिरात्मनन् ॥

अर्थ—आत्मा तीन प्रकार है परमात्मा १ अन्तरात्मा २। और वहिरात्मा ३। तिन में से अन्तरात्मा के उपाय से परमात्मा को ध्यावो और वहिरात्मा को छोड़ो।

अक्खाणि वहिरप्पा अन्तर अप्पाहु अप्पसङ्कप्पो।

कम्मकलङ्कविमुक्को परमप्पा भणए देवो ॥ ५ ॥

अक्षाणि वहिरात्मा अन्तरात्मा स्फुटं आत्मसङ्कल्पः।

कर्मकलङ्कविमुक्तः परमात्माभण्यते देवः ॥

अर्थ—आंख नाक आदि इन्द्रियां वहिरात्मा हैं अर्थात् इन्द्रियों को ही आत्मा मानने वाला वहिरात्मा है, आत्मसङ्कल्प अर्थात् भेदज्ञान अन्तरात्मा है।

भावार्थ—जो आत्मा को शरीर से भिन्न मानता है वह अन्तरात्मा है, और जो कर्मरूपी कलङ्क से रहित है वह परमात्मा है, वही देव है।

मलरहिओ कलचत्तो अणिन्दओ केवलोविसुद्धप्पा।

परमेट्ठीपरमजिणो सिवङ्करो सासओ सिद्धो ॥ ६ ॥

मलरहितः कलत्यक्तः अनिन्द्रियः केवलोविशुद्धात्मा।

परमेष्ठी परमजिनः शिवङ्करः शास्वतः सिद्धः ॥

अर्थ—वह परमात्मा कर्ममल रहित है, शरीर रहित है, इन्द्रिय ज्ञान रहित है अर्थात् जिसको बिना इन्द्रियों के ज्ञान होता है, अथवा निन्दारहित है अर्थात् प्रशंसनीय है, केवल ज्ञानमयी है, परम पद अर्थात् मोक्षपद में तिष्ठे हैं, परम अर्थात् उत्कृष्ट जिन है शिव अर्थात् मंगल तथा मोक्ष को करे है, अविनाशी और सिद्ध स्वरूप है।

आरुहवि अन्तरप्पा वहिरप्पा छण्डिऊणतिविहेण।
झाइज्जइ परमप्पा उवइट्ठं जिणवरिं देहिं ॥ ७ ॥

आरुह्य अन्तरात्मनं वहिरात्मानं त्यक्त्वात्रिविधेन।
ध्ययेत परमात्मानं उपदिष्ट जिनवरेन्द्रैः ॥

अर्थ—मन वचन काय से वहिरात्मा को छोड़ाकर अन्तरात्मा का आश्रय लेकर परमात्मा को ध्यावो ऐसा जिनेन्द्रदेव ने कहा है।

वहिरत्थेफुरियमाणो इन्दिय दारेण णियसरुवचओ।
णियदेहं अप्पाणं अज्जव सदि मूढादिट्टीओ ॥ ८ ॥

वहिरर्थे स्फुरितमनाः इन्द्रिय द्वारेण निजस्वरूप च्युतः।
निजदेहम् आत्मान अध्यवश्यति मूढदृष्टिः ॥

अर्थ—इन्द्रियों के निमित्त से स्त्री पुत्र धन धान्य ग्रह भूमि आदिक वाह्य पदार्थों में लगा हुवा है मन जिसका इसी से निज आत्मस्वरूप से छुटा हुवा यह मिथ्या दृष्टि पुरुष निज शरीर में ही आत्मा को निश्चय करे है अर्थात् शरीर को ही आत्मा समझे है।

णियदेह सरिस्सं पिछिऊण परविग्गहं पयत्तेण।
अचेयणं पि गहियं झाइज्जइ परमभाएण ॥ ९ ॥

निजदेहसदृशं दृष्ट्वा परविग्रहं प्रयत्नेन।
अचेतनमपि गृहीतं ध्यायते परमभेदेन ॥

अर्थ—चेतनारहित और शरीर से अत्यन्त भिन्न स्वरूप आत्मा कर ग्रहण किया ऐसे परपुरुषों के शरीर को अपनी देह (शरीर) के समान जानकर उसको (अनेक) प्रयत्नों कर ध्यावै है।

भावार्थ--मिथ्या दृष्टि (बहिरात्मा) जैसे अपने देह को आत्मा जाने है तैसेही पर के देह को पर का आत्मा जाने है।

सपरज्झवसाएण देहेसुय अविदियच्छ अप्पाणं।
सुअ दराई विसए मणुयाणं वट्टए मोहो ॥ १० ॥
स्वपराध्यवसायेन देहेषु च अविदितार्थात्मनाम्।
सुतदारादि विषये मनुजानां वर्त्तते मोहः ॥

अर्थ—पर पदार्थ अर्थात् शरीरादि में अपने आप को निश्चय करना सो स्वपराध्यवसाय है। नहीं जाना है जीवादि पदार्थों का स्वरूप जिन्होंने ऐसे मनुष्य का मोह उस स्वपराध्यवसाय से पुत्र कलित्र आदि विषयों में बढ़े है।

मिच्छाणाणेसुरओ मिच्छाभावेण भाविओ सन्तो।
मोहोदएण पुणरावि अङ्गं सं मण्णए मणुओ ॥ ११ ॥
मिथ्याज्ञानेषु रतः मिथ्याभावेन भावितः सन्।
मोहोदयेन पुनरपि अङ्गं स्वं मन्यते मनुजः ॥

अर्थ—यह मनुष्य मिथ्याज्ञान में तत्पर होता हुवा, मिथ्याभाव अनुबासित अर्थात गन्धित होता है फिर मोह के उदय से शरीर को आपा जाने है।

भावार्थ—अग्रहीत मिथ्यात्व से ग्रहीत फिर ग्रहीत से अग्रहीत मिथ्यात्व होता रहता है।

जोदेहेणिरवेक्खो णिद्दन्दो णिम्ममो णिरारम्भो।
आदसहावेसुरओ जो इ सो लहहि णिव्वाणं ॥ १२ ॥
यः देहेनिरपेक्षः निर्द्वन्दः निर्ममः निरारम्भः।
आत्मस्वभावे सुरतः योगीस लभते निर्वाणम् ॥

अर्थ—जो योगीश्वर देह में निरपेक्ष अर्थात उदासीन है कलह अर्थात लड़ाई झगड़े से रहित है अथवा स्त्री भोगादिक से रहित है परम पदार्थों में ममकार अर्थात अपनायत नहीं करता है और असि

मसि कृषि विद्या वणिज्य सेवा आदिक आरम्भों को भी नहीं करता है किन्तु आत्मस्वभाव में अत्यन्त लीन है वह निर्वाण को पावे है।

परदव्वरओ वज्झइ विरओ मुच्चेइ विविहकम्मेहिं ।
एसो जिण उपदेसो समासओ बन्धमोक्खस्स ॥ १३ ॥

परद्रव्यरतः बध्यते विरतः मुञ्चति विविधकर्मभिः ।
एष जिनोपदेशः समासतः बन्धमोक्षस्य ॥

अर्थ—जो परद्रव्यों में प्रीति करता है वह कर्मों से बन्धता है और जो उनसे विरक्त रहता है वह समस्त कर्मों से छूटता है यह बन्ध और मोक्ष का स्वरूप संक्षेप से जिनेन्द्रदेव ने उपदेश किया है।

सद्दव्वरओ सवणो सम्माइट्ठी हवेइ णियमेण ।
सम्मत्त परिणदो पुण खवेइ दुट्ठट्ठकम्माइं ॥ १४ ॥

स्वद्रव्यरतः श्रमणः सम्यग्दृष्टिर्भवति नियमेन ।
सम्यक्त्व परिणतः पुनः क्षिपते दुष्टाष्टकर्माणि ॥

अर्थ—जो मुनि अपने आत्मीक द्रव्य में लीन है वह अवश्य सम्यग्दृष्टि है वही सम्यक्त्व के साथ परणत होता हुवा दुष्ट अष्ट कर्मों का क्षय करे है ॥ १४ ॥

सो पुण परदव्वरओ मिच्छादिट्ठी हवेइ सो साहु ।
मिच्छत्त परिणदो पुण वज्झदि दुट्ठट्ठकम्मेहिं ॥ १५ ॥

यः पुनः परद्रव्यरतः मिथ्यादृष्टिभवति स साधुः
मिथ्यात्वपरिणतः पुनः बध्यते दुष्टाष्टकर्मभिः ॥

अर्थ—जो साधु परद्रव्यों में लीन है वह मिथ्या दृष्टि है और मिथ्यात्व से परणत हुवा दुष्ट अष्ट कर्मों से वन्धता है।

परदव्वादो दुगइ सद्दव्वादो हु सुग्गइ हवई ।
इय णाऊण सदव्वे कुणह रई विरइ इयरम्मि ॥ १६

परद्रव्यात् दुर्गतिः स्वद्रव्यात् स्फुटं सुगतिः भवति ।
इति ज्ञात्वा स्वद्रव्ये कुरुत रतिं विरति मितरस्मिन् ॥

अर्थ—परद्रव्य से दुर्गति और स्वद्रव्य से सुगति (मोक्ष) होती है ऐसा जान कर अपने आत्मीक द्रव्य में प्रीति करो और अन्य (बाह्य) पदार्थों में विरति अर्थात् विरक्तता करो।

आदसहावा वण्णं सचित्ताचित्तमिस्सियं हवदि।
तं परदव्वं भणियं अवितच्छदं सव्वदरसीहिं ॥ १७ ॥

आत्मस्वभादन्यत् सचित्ताचित्तमिश्रितं भवति।
तत् परद्रव्यं भणितम्-अवितथं सर्वदर्शीभिः ॥

अर्थ—जो आत्मस्वरूप से अन्य है ऐसे सचित्त अर्थात् पुत्र कलत्रादिक और अचित्त अर्थात् धन धान्य आदिक और मिश्रित अर्थात् आभूषण सहित स्त्री आदिक पदार्थ सर्वही पर द्रव्य हैं ऐसा सर्वज्ञ देव ने सत्यार्थ वर्णन किया है।

दुट्ठट्ठ कम्म रहियं अणोवमं णाणविग्गहं णिच्चं।
सुद्धं जिणेहि कहियं अप्पाणं हवदि सदव्वं ॥ १८ ॥

दुष्टाष्ट कर्म रहितम् नपमं ज्ञानविग्रहं नित्यम्।
शुद्ध जिनैः कथितम्, आत्मा भवति स्वद्रव्यम् ॥

अर्थ—दुष्ट ज्ञानावरणादिक आठ कर्मों से रहित अनुपम् ज्ञान ही है शरीर जिसका, अविनश्वर शुद्ध अर्थात् कर्म कलङ्करहित केवल ज्ञानमयी आत्मा और स्वद्रव्य है ऐसा जिनेन्द्र देवने कहा है।

जे झायंति सदव्वं परदव्वं परंमुहा दु सुचरित्ता।
ते जिणवरा णमग्गं अणुलग्गा लहहि णिव्वाणं ॥ १९ ॥

ये ध्यायन्ति स्वद्रव्यं परद्रव्य पराङ्मुखास्त सुचरित्राः।
ते जिनवराणां मार्गमनुलग्ना लभन्ते निर्वाणम् ॥

अर्थ—जो पर पदार्थों से परांमुख और उत्तम चारित्र के धारक साधु स्वद्रव्य को अर्थात् अपनी आत्मा को ध्यावें हैं वे जिनेंद्र देव के मार्ग में लगेहुवे अवश्य निर्वाण को पावें हैं।

जिणवरमएण जोई झाणे झाएइ सुद्धमप्पाणं।
जेण लहहि णिव्वाणं ण लहहि किं तेण सुरलोयं ॥ २०

जिनवर मतेन योगी ध्याने ध्यायति शुद्धमात्मानम् ।
येन लभते निर्वाणं न लभते किं तेन सुरलोकम् ॥

अर्थ—योगी ध्यानी मुनि जिनेन्द्र देव के मत के द्वारा ध्यान में शुद्ध आत्मा को ध्याकर निर्वाण पद को पावे हैं तो क्या उस ध्यान से स्वर्गलोक नहीं मिलता अर्थात् अवश्य मिलता है।

जो जाइ जोयणसयं दिय हेणेक्केण लेवि गुरु भारं ।
सो किं कोसद्धं पिहु णसक्कए जाहु भुवणयले ॥ २१ ॥

यो याति योजनशतं दिनेनेकेन लात्वा गुरु भारम् ।
स किं क्रोशार्धमपि स्फुटं न शक्यते यातुं भुवनतले ॥

अर्थ—जो पुरुष भारी बोझ लेकर एक दिन में सौ १०० योजन तक चलता है तो क्या वह आधा कोश जमीन पर नहीं जा सकता है ?। इसी प्रकार जो ध्यानी मोक्ष को पा सकता है तो क्या वह स्वर्गादिक अभ्युदय को नहीं पा सक्ता है ?

जो कोडिएन जिप्पइ सुहटो संगाम एहि सव्वेहि ।
सो किं जिप्पई इक्किं णरेण संगामए सुहडो ॥ २२ ॥

यः कोटीः जीयते सुभटः संग्रामे सर्वैः ।
स किं जीयते एकेन नरेण संग्रामे सुभटः ॥

अर्थ—जो सुभट (योधा) संग्राम में समस्त करोड़ों योधाओं को एक साथ जीते है वह सुभट क्या एक साधारण मनुष्य से रण में हार सकता है ? अर्थात् नहीं। जो जिन मार्गी मोक्ष के प्रतिबन्धक कर्मों का नाश करे है वह क्या स्वर्ग के रोकने वाले कर्मों का नाश नहीं कर सके है।

सग्गं तवेण सव्वो विपावए तहावि झाण जोएण ।
जो पावइ सो पावइ परलोए सासयं सोक्खं ॥ २३ ॥

स्वर्गं तपसा सर्वोऽपि प्राप्नोति तत्रापि ध्यान योगेन ।
यः प्राप्नोति स प्राप्नोति परलोके शाश्वतं सौख्यम् ॥

अर्थ—तपश्चरण करके स्वर्ग को सर्व ही भव्य अभव्य तथा जिनधर्मी अन्य धर्मी भी पावें हैं तथापि जो ध्यान के योग से स्वर्ग पावें हैं वह परलोक में अविनश्वर सुख को पावें हैं।

अइसोहण जोएण सुद्धं हेमं हवेइ जह तह यं।
कलाई लद्धीए अप्पा परमप्पओ हवदि ॥ २४ ॥
अति शोभन योगेन शुद्धं हेम भवति यथा तथाच।
कालादि लब्ध्वा आत्मा परमात्मा भवति ॥

अर्थ—जैसे सुवर्ण पाषाण उत्तम शोधन सामिग्री के निमित्त से निर्मल सुवर्ण बनजाता है तैसे ही कालादिक लब्धिओं को पाकर यह संसारी आत्मा परमात्मा हो जाता है।

वर वयतवेहि सग्गो मादुक्खं होउ णिरय इयरेहिं।
छाया तवट्ठियाणं पडिवालं ताण गुरु भेयं ॥ २५ ॥
वरं व्रत तपोभिः स्वर्गः मा दुःखं भवतुनरके इतरैः।
छाया तपस्थितानां प्रतिपालयतां गुरु भेदः ॥

अर्थ—व्रत और तप से स्वर्ग होता है यह तो अच्छी बात है परंतु अव्रत और अतप से नरक विषे दुख नहीं होना चाहिये, छाया और धूप में बैठने वालों के समान व्रत और अव्रतों के पालनेवालों में बड़ा भेद है।

भावार्थ—छाया में बैठने वाला मनुष्य सुख पावे है तैसे ही व्रत पालन करने वाला स्वर्गादिक सुख पावें है और धूप में बैठने वाला मनुष्य दुख पावे है तैसे ही अव्रतों को आचरण करने वाला अर्थात् हिंसा आदिक करनेवाला दुःख पावे है इन दोनों में बड़ा भारी भेद है। ऐसा समझ कर व्रत अङ्गीकार करो।

जो इच्छादि निस्सरिदुं संसार महण्णवस्स रुद्दस्स।
कम्मि धणाण डहणं सोझायइ अप्पयं सुद्धं ॥ २६ ॥
य इच्छाति निस्सृतुं संसार महार्णवस्य रुद्रस्य।
कर्मेन्धनानां दहनं स ध्यायति आत्मानं शुद्धम् ॥

अर्थ—जो पुरुष अतिविस्तीर्ण (अधिक चोड़ाई वाले) संसार समुद्र से निकलने की इच्छा करे है वह पुरुष कर्म रुपी इन्धन को जलाने के लिये जैसे तैसे शुद्ध आत्मा को ध्यावे।

सव्वे कसाय मुत्तं गारवमयराय दोस वामोहं।
लोय विवहार विरदो अप्पा झाएइ झाणत्थो ॥ २७ ॥

सर्वान् कषायान् मुक्त्वा गारवमदराग द्वेष व्यामोहम्।
लोकव्यवहार विरतः आत्मानं ध्यायति ध्यानस्थः ॥

अर्थ—समस्त क्रोधादिक कषायों को और बड़प्पन, मद, राग द्वेष व्यामोह अथवा पुत्र मित्र स्त्री समूह को छोड़कर लोकव्यवहार से विरक्त और आत्म ध्यान में स्थिर होता हुवा आत्मा को ध्यावे।

मिच्छत्तं अण्णाणं पावं पुण्णं चएइ तिविहेण।
मोणव्वएण जोई जोयच्छो जोयए अप्पा ॥ २८ ॥

मिथ्यात्वमज्ञानं पापं पुण्यं च त्यक्त्वा त्रिविधेन।
मौन व्रतेन योगी योगस्थो योजयति आत्मानम् ॥

अर्थ—योगी मुनीश्वर मिथ्यात्व अज्ञान पाप और पुण्य बन्ध के कारणों को मन बचन काय से छोड़ मौनव्रत धारण कर योग में (ध्यान में) स्थित होता हुवा आत्मा को ध्यावे है।

जं मया दिस्सहेरुवं तणजाणदि सव्वहा।
णाणगं दिस्सदे णंतं तम्हा जंपेमि केणहं ॥ २९ ॥

यन्मया दृश्यते रूपं तन्नजानाति सर्वथा।
ज्ञायको दृश्यतेऽनन्तः तस्माज्जल्पामि केनाहम् ॥

अर्थ—जो रूप स्त्री पुत्र धनधान्यादिक का मुझे दीखे है सो मूर्तीक जड़ है तिसको सर्वथा शुद्धनिश्चय नय कर कोई नहीं जाने है और उन जड़पदार्थों को मैं अमूर्तीक अनन्त केवल ज्ञान स्वरुप वाला नहीं दीखू हूं फिर मैं किसके साथ बचना लाप करूं। भावार्थ। वार्तालाप उसके साथ किया जाता है जो दीखता हो सुने और कहै सो

में तो ज्ञानी अमूर्तिक वचन वर्गणा रहित हूं और ये स्त्री पुत्र शिष्य आदिकों का शरीर जो कि मुझे व्यवहार नय से दीखता है वह पुद्गल है मूर्तीक है तो इन से परस्पर कैसे वार्ता होसके इससे मौन धारण कर आत्म ध्यान करूंहूँ।

सव्वा सव्वणिरोहेण कम्मं खवदि संचिदं।
जोयच्छो जाणए जोई जिण देवेण भासियं ॥३०॥
सर्वाश्रवनिरोधेन कर्म क्षिपति संचितम्।
योगस्थो जानाति योगी जिनदेवेन भासितम् ॥

अर्थ—योग (ध्यान) में ठहरा हुवा शुक्ल ध्यानी साधु मिथ्या दर्शन अव्रत प्रमाद कषाय और योग (मन वचन काय की प्रवृत्ति इन समस्त आश्रवों के निरोध होने से पूर्व संचय किये हुवे समस्त ज्ञानावरणादिक कर्मों का क्षय करे है और समस्त जानने वाले पदार्थों को जाने है एसा श्रीजिनेन्द्र देव ने कहा है।

जो सुत्तो ववाहारे सो जोई जग्गए सकज्जम्मि।
जो जग्गदि ववहारे सो सुत्तो अप्पणे कज्जे ॥ ३१ ॥
यः सुप्तो व्यवहारे स योगी जागर्ति स्वकार्ये।
यो जागर्ति व्यवहारे स सुप्तः आत्मनः कार्ये ॥

अर्थ—जो योगी व्यवहार में (लौकिकाचार में) सोता है वह स्वकार्य में जागता है अर्थात् सावधान है और जो योगी व्यवहार में जागता है वह आत्मकार्य में सोता है।

इयजाणऊण जोई ववहारं चयइ सव्वहा सव्व।
झाइय परमप्पाणं जह भणियं जिणवरं देण ॥ ३२ ॥
इति ज्ञात्वा योगी व्यवहारं त्यजति सर्वथा सर्वम्।
ध्यायति पारमात्मानं यथा भाणितं जिनवरेन्द्रेण ॥

अर्थ—ऐसा जानकर योगी सर्वप्रकार से समस्त व्यवहार को छोड़े है और जैसा जिनेन्द्रदेव ने परमात्मा का स्वरूप कहा है उस स्वरूप को ध्यावे है।

पंच महव्वय जुत्तो पंच समिदीसु तीसु गुत्तीसु ।
रयणत्तय संजुत्तो झाणं झयणं सया कुणह ॥ ३३ ॥

पञ्चमहाव्रत युक्तः पञ्च समितिषु तिसृषु गुप्तिषु ।
रत्नत्रय संयुक्तयः ध्यानाऽध्ययनं सदा कुरु ॥

अर्थ—भो भव्यो ? तुम पांच महाव्रतों के धारक होकर पांच समति और तीन गुप्ति में लीन होकर और रत्नत्रय कर संयुक्त होते हुवे ध्यान और अध्यायन सदाकाल करो ।

रयणत्तय माराह जीवो आराहओ मुणेयव्वो ।
आराहणा विहाणं तस्स फलं केवलं णाणं ॥ ३४ ॥

रत्नत्रय माराधयन् जीव आराधको मुनितव्यः ।
आराधना विधानं तस्य फलं केवलं ज्ञानम् ॥

अर्थ—जो रत्नत्रय को आराधं (सेवै) है वह आराधक है ऐसा जानना और यही आराधना का विधान अर्थात सेवन करना है, तिसका फल केवल ज्ञान है ।

सिद्धो सुद्धो आदा सव्वराहू सव्व लोय दरसीयं ।
सो जिणवरेहिं भणियो जाण तुम केवलं णाणं ॥ ३५ ॥

सिद्धः शुद्धः आत्मा सर्वज्ञः सर्व लोक दर्शी च ।
स जिनवरैः भणितः जानीहि त्वं केवलं ज्ञानम् ॥

अर्थ—यह आत्मा सिद्ध है कर्म मलकर रहित होने से शुद्ध है सर्वज्ञ है और सर्वलोक अलोकको दखने वाला है ऐसा जिनेन्द्रदेव ने कहा है इसी को तुम केवल ज्ञान जानो अर्थात अभेद विविक्षा कर आत्मा को केवल ज्ञान कहा है, ज्ञान और आत्मा के भिन्न प्रदेश नहीं हैं जो आत्मा है सोही ज्ञान है और जो ज्ञान है सोई आत्मा है ।

रयणत्तयंपि जोई आराहइ जोहु जिणवर मएण ।
सो झायदि अप्पाणं परिहरादि परं ण संदेहो ॥ ३६ ॥

रत्नत्रयमपि योगी आराधयति यः स्फुटं जिनवरमतेन ।
स ध्यायति आत्मानं परिहरति परं न सन्देहः ॥

अर्थ—जो योगी जिनेन्द्रदेव की आज्ञानुसार रत्नत्रय को आराधे है वह आत्मा को ही ध्यावे है और पर पदार्थों को छोड़े है इसमें सन्देह नहीं है।

जं जाणइ तं णाणं जं पिच्छइ तं च दंसणं णेयं।
तं चारित्तं भणियं परिहारो पुण्णपावाणं॥ ३७॥

यज्जानाति तद् ज्ञानं यत् पश्यति तच्च दर्शनं ज्ञेयम्।
तच्चारित्रं भणितं परिहारः पुण्य पापानाम्॥

अर्थ—जो आत्मा जाने है सो ज्ञान, और जो देखे है सो दर्शन है, और वही आत्मा चारित्र है जो पुण्य और पाप को दूर करे है।

तच्च रुई सम्मत्तं तच्च गाणणं च हवइ स ण्णणं।
चारित्तं परिहारो पयंपियं जिणवरिं देहिं॥ ३८॥

तत्वरुचिः सम्यक्त्वं तत्वग्रहणं च भवति सञ्ज्ञानम्।
चारित्रं परिहारः प्रजल्पित जिनवरेन्द्रैः॥

अर्थ—जीवादिक तत्वों में जो रुचि है सो सम्यक्त्व है, तत्वों का जानना सो सम्यग् ज्ञान है और पुण्य पाप का छोड़ना सो चारित्र है ऐसा जिनेन्द्रदेव ने कहा है।

दंसण सुद्धो सुद्धो दंसण सुद्धो लहइ णिव्वाणं।
दंसण विहीण पुरुसो ण लहइ इच्छियं लाहं॥ ३९॥

दर्शनशुद्धः शुद्धः दर्शनशुद्धः लभते निर्वाणम्।
दर्शनेविहीनः पुरुषः न लभते इष्टं लाभम्॥

अर्थ—जो सम्यग् दर्शन से शुद्ध है वही आत्मा शुद्ध है, क्योंकि दर्शन शुद्ध आत्मा ही निर्वाण को पावे है और जो दर्शन रहित पुरुष है वह इष्ट (अनन्त सुखमयी) लाभ को नहीं पावे है।

इय उवए संसारं जरमरण हरं खु मण्णए जंतु।
तं सम्यत्तं भणियं समणाणं सावयाणं पि॥ ४०॥

इति उपदेशसारं जन्ममरणहरं स्फुटं मन्यते यंतु ।
तत् सम्यक्त्वं भणितं श्रमणाणं सावयाणं पि ॥

अर्थ—यह उपदेश साररूप है जन्ममरण के हरने वाला है जो इसको माने है श्रद्धे है सोही सम्यक्त्व है यह सम्यक्त्व मुनियों को श्रावकों को तथा अन्य सर्वही जीवमात्र के वास्ते कहा है।

जीवाजीव विहत्ती जोई जाणेइ जिणवरमएण ।
तं सण्णाणं भणियं अवियच्छं सव्वदरसीहिं ॥ ४१ ॥

जीवाजीव विभक्तिं योगी जानाति जिनवरमतेन ।
तत् संज्ञानं भाणितम् अवितथं सर्वदर्शिभिः ॥

अर्थ—योगी जिनेन्द्र की आज्ञा के अनुकूल जीव और अजीव के भेद को जाने है यही सत्यार्थ सम्यग ज्ञान सर्वज्ञदेव ने कहा है।

जं जाणिऊण जोई परिहारं कुणइ पुण्णपावाणं ।
तं चारित्तं भणियं अवियप्पं कम्मरहिएण ॥ ४२ ॥

यत् ज्ञात्वा योगी परिहारं करोति पुण्यपापानाम् ।
तत् चारित्रं भणितम् अविकल्पं कर्म्मराहितेन ॥

अर्थ—जो मुनि भेदज्ञान को जानकर पुण्य पाप को छोड़े है सोई अविकल्प (संकल्प विकल्प रहित—यथाख्यात) चारित्र है ऐसा कर्मों कर रहित श्री सर्वज्ञदेव ने कहा है।

जो रयणत्तय जुत्तो कुणइ तवं संजदो ससतीए ।
सो पावइ परमपयं झायंतो अप्पयं सुद्धं ॥ ४३ ॥

यो रत्नत्रययुक्तः करोति तपः संयतः स्वशक्त्या ।
स प्राप्नोति परमपदं ध्यायन् आत्मानं शुद्धम् ॥

अर्थ—जो रत्नत्रय सहित संयमी मुनि अपनी शक्ति अनुसार तप करे है वह शुद्ध आत्मा को ध्याता हुआ परम पद [मोक्ष] को पावे है।

तिहितिण्णि धरविणिच्चं तियरहिओ तहातिएण परियरिओ ।
दो दोसविप्पमुक्को परमप्पा झायए जोई ॥ ४४ ॥

त्रिभिः त्रीन् धृत्वा नित्यं त्रिकरहितः तथा त्रिकेणपरिकलितः ।
द्विदोष विप्रमुक्तः परमात्मानं ध्यायते योगी ॥

अर्थ—मन वचन काम कर तीनों (वर्षा शीत उष्ण) कालों में सदा काल तीनों शल्यों (माया मिथ्या निदान) को छोड़ता हुआ और तीनों (दर्शन ज्ञान चारित) कर संयुक्त होकर दो दोषों (राग-द्वेष) से छूटा हुवा योगी परमात्मा को ध्यावे है ।

मयमाय कोहरहिओ लोहेण विवज्जिओ य जो जीवो ।
णिम्मल सभावजुत्तो सो पावइ उत्तमं सोक्खं ॥ ४५ ॥

मदमाया क्रोध रहितः लोभेन विवर्जितश्च यो जीवः ।
निर्मलस्वभावयुक्तः स प्राप्नोति उत्तमं सौख्यम् ॥

अर्थ—जो जीव मद (मान) मायाचार क्रोध और लोभ से रहित है और निर्मल स्वभाव वाला है सोही उत्तम सुख को पावे है।

विसय कसायेहि जुदो रुद्दोपरमप्प भावरहिय मणो ।
सो ण लहहि सिद्धसुहं जिणमुद्द परम्मुहो जीवो ॥ ४६ ॥

विषय काषायैर्युक्तः रुद्रः परमात्म भावरहित मनाः ।
स न लभते सिद्धसुखं जिनमुद्रा पराङ्मुखो जीवः ॥

अर्थ—जो विषय और कषायों से सहित है और परमात्मा की भावना से रहित है मन जिसका और जिनमुद्रा (दिगम्बर भेष) से विमुख है ऐसा रुद्र सिद्ध सुख को नहीं पावे हैं।

जिणमुद्दं सिद्धिसुहं हवेई णियमेण जिणवरुद्दिट्ठा ।
सिविणेविणु रुच्चइपुण जीवा अच्छंति भवगहणे ॥ ४७ ॥

जिनमुद्रा सिद्धसुखं भवति नियमेन जिनवरोद्दिष्टा ।
स्वप्नेपि न रोचते पुनः जीवा तिष्ठन्ति भवगहने ॥

अर्थ—जिन मुद्रा अर्थात दिगम्बर ही नियम कर मोक्ष सुख है यहां कारण में कार्य का उपचार कहा है अर्थात जिन मुद्रा के धारण करने से मोक्ष का सुख मिलता है ऐसा जिनेन्द्र देवने कहा है, जिसको यह जिनमुद्रा स्वप्न में भी नहीं रुचे हैं वह पुरुष संसार रूपी बनही में रहे हैं। अर्थात् जिसको जिन मुद्रा से कुछ भी प्रीत नहीं है वह संसार से पार नहीं हो सकता।

परमप्पय झायंतो जोई मुच्चेइ मलदलोहेण।
णादियदि णवं कम्मं णिद्दिट्ठं जिणवरिंदेहिं ॥ ४८॥

परमात्मानं ध्यायन् योगी मुच्यते मलद लोभेन।
नाद्रियते नवं कर्म निर्दिष्टं जिनवरेन्द्रैः ॥

अर्थ—परमात्मा के ध्यान करने वाला योगि पापों के उत्पन्न करने वाले लोभ से छूट जाता है इसी से उसके नवीन कर्म बन्ध नहीं होता है ऐसा जिनेन्द्र देवने कहा है।

होऊण दिढ चरित्तो दिढ सम्मत्तेण भाविय मदीओ।
झायंतो अप्पाणं परमपयं पावए जोई ॥ ४९ ॥

भूत्वा दृढचरित्रः दृढसम्यक्त्वेन भावितमतिः।
ध्यायन्नात्मानं परमपदं प्राप्नोति योगी ॥

अर्थ—जो योगी दृढ़ सम्यक्त्वी और दृढ़ चारित्रवान् होकर आत्मा को ध्यावे है वह परमपद को पावे है।

चरणं हवइ सधम्मो धम्मोसोहवइ अप्पसमभावो।
सोणारोस रहिओ जीवस्स अणण्णपरिणामो ॥५० ॥

चरणं भवति स्वधर्मः धर्मः स भवति आत्मसमभावः।
स रागरोष रहितः जीवस्य अनन्य परिणामः ॥

अर्थ—चारित्र ही आत्मा का धर्म है वह धर्म सर्व जीवों में समभाव स्वरुप है और वह समभाव रागद्वेष रहित है यही जीव का अनन्य (एकस्वरूप—अभिन्न) परिणाम है।

जह फलिहमणिविसुद्धो परदव्वजुदो हवेइ अण्णं सो ।
तह रागादिविजुत्तो जीवो हवदि हु अण्णण्णविहो ।। ५१।।

यथा स्फटिकमणिविशुद्धः परद्रव्यजुतो भवति अन्यादृशः ।
तथा रागादिवियुक्तः जीवो भवति स्फुटमन्योन्य विधः ।।

अर्थ—जैसे स्फटिकमणि विशुद्ध है परन्तु हरित पीत नील आदि पर द्रव्य के संयुक्त होने से अन्यरूप अर्थात हरित नील आदि के रूप वाली होजाती है तैसे ही रागादि परिणामों से सहित आत्मा भी अन्य अन्य प्रकार का होजाता है।

भावार्थ—जैसे स्फटिकमणि में नील डाक लगने से वह नील होजाती है और पीत से पीत तथा हरित से हरित होजाती है तैसे ही आत्मा स्त्री में राग रूप होने से रागी और शत्रु में द्वेष करने से द्वेषी तथा पुत्र में मोह करने से मोही होता है।

देवगुरुम्मिय भत्तो साहम्मिय संजदेसु अणुरत्तो ।
सम्मत्त मुव्वहंतो झाणरओ हवदि जोई सो ।। ५२ ।।

देवेगुरौ च भक्तः साधर्मिक संयतेषु अनुरक्तः ।
सम्यक्त्व मुद्वहन् ध्यानरतः भवति योगी सः ।।

अर्थ—जो देव गुरु का भक्त है तथा साधर्मी मुनियों से वात्सल्य अर्थात प्रीति करै है और सम्यक्त्व को धारण करै है सोई योगी ध्यान में रत होता है।

भावार्थ—जिस गुण में जिसकी प्रीति होती है उस गुण वाले से उसकी अवश्य प्रीति होती है, जो सिद्ध (मुक्त) होना चाहता है उसकी प्रीति (भक्ति) सिद्धों में तथा सिद्ध होने वालों में और सिद्धों के भक्तों में अवश्य होगी।

उग्ग तवेण्णण्णाणी जं कम्मं खवदि भवहिं वहुएहिं ।
तं णाणी तिहिगुत्तो खवेइ अंतो मुहुत्तेण ।। ५३ ।।

उग्रतपसाऽज्ञानी यत्कर्म क्षपयति भवैर्बहुभिः।
तत् ज्ञानी त्रिभिर्गुप्तः क्षपयति अन्तर्मुहूर्तेन ।।

अर्थ—अज्ञानी पुरुष अनेक भव में उग्र (तीव्र) तपश्चरण से जितने कर्मों का क्षय करता है ज्ञानी पुरुष उतने कर्मों को तीनों गुप्तिकर अन्तर्मुहूर्त में क्षय कर देता है।

सुभ जोगेण सुभावं परदव्वे कुणइ राग दोसाहू।
सो तेणदु अण्णाणी णाणी एत्तो दुविपरी दो ॥५४॥

शुभ योगेन सुभावं पर द्रव्ये करोति राग द्वेषौ स्फुटम्।
स तेन तु अज्ञानी ज्ञानी एतस्माद्विपरीतः॥

अर्थ—जो योगी मनोज्ञ इष्ट प्रिय वनितादिक में प्रीति भाव करे है और पर द्रव्यों में राग द्वेष करे है वह साधु अज्ञानी और जो इससे विपरीत है अर्थात राग द्वेष रहित है वह ज्ञानी है।

आसव हेदूय तहा भावं मोक्खस्स कारणं हवादि।
सो तेण दु अण्णाणी आदसहावस्स विवरी दो ॥ ५५ ॥

आश्रव हेतुश्च तथा भावं मोक्षस्य कारणं भवति।
स तेन तु अज्ञानी आत्मस्वभावात् विपरीतः॥

अर्थ—जैसे इष्ट वनितादि विषयों में किया हुआ राग आश्रव का कारण है तैसे ही निर्विकल्प समाधि के विना मोक्ष सम्बन्धी भी राग आश्रव का कारण है इसी से मोक्ष को इष्ट मानकर उसमें राग करने वाला भी अज्ञानी है क्योंकि वह आत्म स्वभाव से विपरीत है अर्थात वह आत्म स्वभाव का ज्ञाता नहीं है।

जो कम्म जादमइओ सहाव णाणस्स खंड दोसयरो।
सो तेण दु अज्ञानी जिण सासण दूसगो भणिओ ॥५६॥

यः कर्म जात मतिकः स्वभाव ज्ञानस्य खण्ड दोष करः।
स तेन तु अज्ञानी जिनशासन दूषको भणितः॥

अर्थ—इन्द्रिय अनिन्द्रिय (मन) जनित ही ज्ञान है जो पुरुष ऐसा माने है वह स्वभाव ज्ञान (केवल ज्ञान) को खण्ड ज्ञान से दूषित करे है। इसी से वह अज्ञानी है जिन आज्ञा का दूषक है।

णाणं चारित्तहीणं दसणहीणं तवण संजुत्तं ।
अण्णेसु भाव रहियं लिंगगहणेण कि सौक्खं ॥५७॥

ज्ञानं चारित्र हीनं दर्शन हीनं तपोभिः संयुक्तम् ।
अन्येषु भावरहितं लिङ्ग ग्रहणेन किं सौख्यम् ॥

अर्थ—जहां चारित्र हीन तो ज्ञान है यद्यपि तपकर सहित है परन्तु सम्यगदर्शन कर हीन है तथा अन्य धर्म क्रियाओं में भी भाव रहित है ऐसे लिङ्ग अर्थात मुनि वेश धारण करने से क्या सुख है ? अर्थात मोक्ष सुख नहीं होता ।

अचेयणम्मि चेदा जोमण्णइ सो हवेइ अण्णाणी ।
सो पुण णाणी भणिओ जो भण्णइ चेयणो चेदा ॥५८॥

अचेतने चेतयितारं यो मनुते स भवति अज्ञानी ।
स पुन ज्ञानी भणितः यो मनुते चेतने चेतयितारम् ॥

अर्थ—जो अचेतन में चेतन माने है सो अज्ञानी है। वह ज्ञानी है जो चेतन में ही चेतन माने है ।

तव रहियं जं णाणं णाण विजुत्तो तओवि अकयत्थो ।
तम्हा णाण तवेण संजुत्तो लहइ णिव्वाणं ॥ ५९ ॥

तपो रहितं यत् ज्ञानं ज्ञान वियुक्तं तपोपि अकृतार्थः ।
तस्मात् ज्ञान तपसा संयुक्तः लभते निर्वाणम् ॥

अर्थ—जो तप रहित ज्ञान है वह निरर्थक व्यर्थ है तैसे ही ज्ञान रहित तप भी व्यर्थ है इससे ज्ञान सहित और तप सहित जो पुरुष है वही निर्वाण को पावे है ।

धुवासिद्धी तित्थयरो चउणाण जुदा करेइ तव यरणं ।
णाऊण धुवं कुज्जा तवयरणं णाण जुत्तोवि ॥६०॥

ध्रुवसिद्धिस्तीर्थंकर चतुष्क ज्ञान युतः करोति तपश्चरणम् ।
ज्ञात्वा ध्रुवं कुर्यात् तपश्चरणं ज्ञान युक्तोपि ॥

अर्थ—चार ज्ञान (मति ज्ञान श्रुत ज्ञान अवधि ज्ञान और

मनः पर्यय ज्ञान) के धारी श्री तीर्थंकर परम देव भी तपश्चरण को करें हैं ऐसा निश्चय स्वरूप जान कर ज्ञान सहित होते हुवे भी तपश्चरण को करो।

भावार्थ—बहुत से पुरुष स्वाध्याय करने से तथा व्याकरण तर्क साहित्य सिद्धान्तादिक के पठन मात्र ही से सिद्धि समझ लेते हैं उनके प्रबोध के लिये यह उपदेश है कि द्वादशांग के ज्ञाता और मन पर्यय ज्ञान कर भूषित तथा मति ज्ञान और अवधि ज्ञान धारी श्री तीर्थंकर भी वेला तेला आदि उपवास कर के ही कर्म को भस्म करे हैं इससे ज्ञानवान पुरुष व्रत तप उपवासादि अवश्य करें।

वाहरलिंगेणजुदो अब्भंतर लिंगरहित परियम्मो।
सो सगचरित्तभट्ठो मोक्खपहविणासगो साहू ॥ ६१ ॥

वहिर्लिङ्गेनयुतः अभ्यन्तरलिङ्गरहित परिकर्म्मा।
स स्वकचारित्रभ्रष्टः मोक्षपथविनाशकः साधुः॥

अर्थ—जो वाह्य लिङ्ग (नग्नमुद्रा) कर सहित है और जिसका चारित्र आत्मस्वरूप की भावना से रहित है वह अपने आत्मीक चरित्र से भ्रष्ट है और मोक्षमार्ग को नष्ट करे है—

सुहेण भाविदंणाणं दुक्खे जादे विणस्सदि।
तम्हा जहावलं जोई अप्पा दुक्खेहिं भावह ॥ ६२ ॥

सुखेन भावितं ज्ञानं दुःखे जाते विनश्यति।
तस्माद् यथावलं योगी आत्मानं दुःखैः भावयेत्॥

अर्थ—सुखकर (नित्यभोजनादिक कर) भावित किया हुवा ज्ञान दुःख आने पर (भोजनादिक न मिलने पर) नष्ट होजाता है इससे योगी यथा शक्ति आत्मा को दुःखों कर (उपवासादिक कर) अनुवासित करे अर्थात् तपश्चरण करें।

आहारासणणिद्दा जयं च काऊण जिणवर मएण।
झायव्वो णियअप्पा णाऊण गुरुवएसेण ॥ ६३ ॥

आहारासननिद्रा जयं च कृत्वा जिनवर मतेन।
ध्यातव्यो निजात्मा ज्ञात्वा गुरु प्रशादेन॥

अर्थ—आहार जय (क्रम से आहार को घटाना और वेला तेला पक्षोपवास मासोपवास आदि करना) आसनजय (पद्मास-नादिक से २।४।६ घड़ी वा दिन पक्ष मास वर्ष तक तिष्ठा रहना) निद्राजय (एक पसवाड़ सोना एक प्रहर सोना न सोना) इनका अभ्यास जिनेश्वर की आज्ञानुसार करके गुरु के प्रशाद से आत्मस्वरूप को जान कर निज आत्मा को ध्यावो।

अप्पा चरित्तवंतो दंसणणाणेण संजुदो अप्पा।
सो झायव्वो णिच्चं णाऊण गुरुपसाएण ॥ ६४ ॥

आत्मा चरित्रवान् दर्शन ज्ञानेन संयुतः आत्मा।
स ध्यातव्यो नित्यं ज्ञात्वा गुरु प्रसादेन ॥

अर्थ—आत्मा चारित्रवान है आत्मा दर्शन ज्ञान सहित है ऐसा जान कर वह आत्मा नित्य ही गुरु प्रशाद से ध्यावने योग्य है।

दुक्खेण ज्जइ अप्पा अप्पाणाऊण भावणा दुक्खं।
भाविय सहाव पुरिसो विसएसु विरच्चए दुक्खं ॥६५॥

दुःखेन ज्ञायते आत्मा आत्मानं ज्ञात्वा भावना दुःखम्।
भावित स्वभाव पुरुषो विषयेषु विरच्यते दुःखम् ॥

अर्थ—बड़ी कठिनता से आत्मा जाना जात है और आत्मा को जानकर उसकी भावना (अर्थात आत्मा का वारवार अनुभव) करना कठिन है और आत्म स्वभाव की भावना होने पर भी विषयों (भोगादि) से विरक्त होना अत्यन्त कठिन है।

ता मणणज्जइ अप्पा विसएसु णरोपवदए जाम।
विसए विरत्त चित्तो जोई जाणेइ अप्पाणं ॥६६॥

तावत् न ज्ञायते आत्मा विषयेषु नरः प्रवर्तते यावत्।
विषय विरक्त चितः योगी जानाति आत्मानम् ॥

अर्थ—जब तक यह पुरुष विषयों में प्रवर्ते है तब तक आत्मा को नहीं जाने है। जो योगी विषयों से विरक्त चित्त है वही आत्मा को जाने है।

अप्पा णाऊण णरा केई सम्भाव भावयभट्टा ।
हिंडंति चाउरंगं विसएसु विमूहया मूढा ॥६७॥
आत्मा ज्ञात्वा नराः केचित्स्वभाव भाव प्रभ्रष्टाः ।
हिण्डन्ते चातुरङ्गे विषयेषु विमोहिता मूढाः ॥

अर्थ—आत्मा को जान कर भी आत्मस्वभाव की भावना से अत्यन्त भ्रष्ट होते हुवे विषयों में मोहित हुवे अज्ञानी जीव चतुर्गति संसार में भ्रमें हैं।

भवार्थ—आत्मा को जान कर विषयों से विरक्त होना चाहिये।

जे पुण विसय विरत्ता अप्पाणऊण भावणा सहिया ।
छडंति चाउरंगं तव गुण जुत्ता ण संदेहो ॥६८॥
ये पुनः विषय विरक्ता आत्मानं ज्ञात्वा भावना सहिताः ।
त्यजन्ति चातुरङ्गं तपोगुण युक्ता न सन्देहः ॥

अर्थ—जो निकट भव्य विषयों से विरक्त हैं आत्मा को जान कर आत्म भावना करें हैं ते द्वादश तप २८ मूल गुण तथा उत्तर गुण सहित होते हुवे अवश्य चतुर्गति संसार को छोड़ें हैं इसमे सन्देह नहीं।

परमाणु पमाणं वा परदव्वे रादि हवेदि मोहादो ।
सो मूढो अण्णाणी आदसहावस्स विवरीदो ॥ ६९ ॥
परमाणुं प्रमाणं वा परद्रव्ये रति भवेति मोहात् ।
स मूढ अज्ञानी आत्म स्वभावाद्विपरीतः ॥

अर्थ--जिसकी पर द्रव्यों में परमाणु मात्र (किंचित्) भी मोह से रति (प्रीति) है वह मूढ़ अज्ञानी आत्म स्वभाव से विपरीत है।

अप्पा झायंताणं दंसणसुद्धीण दिढचारित्ताण ।
होदि धुवं णिव्वाणं विसएसु विरत्त चित्ताणं ॥ ७० ॥
आत्मानं ध्यायतां दर्शन शुद्धीनां दृढ चारित्राणाम् ।
भवति ध्रुवं निर्वाणं विषयेषु विरक्त चित्तानाम् ॥

अर्थ—चल मलिन और अगाढ़ता रहित है सम्यग्दर्शन जिन का बृह्मचर्यादिक चारित्र में दृढ़ (स्थित) है विषयों से विरक्त है चित्त जिनका ऐसे शुद्ध आत्मा के ध्यान करने वाले को अवश्य निर्वाण होवे है।

जेण रागो परे दव्वे संसारस्सहि कारणं।
तेण वि जोइणो णिच्चं कुज्जा अप्पेसु भावणा ॥७१॥

येन रागः परे द्रव्ये संसारस्यहि कारणम्।
तेनापि योगी नित्यं कुर्य्यादात्मसु भावनाम् ॥

अर्थ—परद्रव्यों में राग का करना संसार का ही कारण है इसीसे योगीश्वर नित्यही आत्मा में भावना करें।

णिंदए य पसंसाए दुक्खे य सुहएसु य।
सत्तूणं चैव बन्धूणं चारित्तं सम भावदो ॥ ७२ ॥

निन्दायां च प्रसंसायां दुःखे च सुखेषु च।
शत्रूणां चैव बन्धूणां चारित्रं सम भावतः ॥

अर्थ—निन्दा और प्रसंसा में तथा दुःख और सुखों के प्राप्त होने पर तथा शत्रु और मित्रों के मिलने पर समता (द्वेष और राग का न होना) भाव होने से सम्यक चारित्र (यथाख्यात चारित्र) होता है।

चरिया वरिया पदसमिदि वज्जिया सुद्ध भाव पब्भट्टा।
केई जंपंति णरा णहु कालो झाण जोयस्स ॥७३॥

चर्या वरिका व्रतसमिति वर्जितो शुद्ध भाव प्रभ्रष्टाः
केचित जल्पन्ति नराः नहिं कालो ध्यान योगस्य ॥

अर्थ—चर्या अर्थात् आचार के रोकनेवाले, व्रत और समितिसे रहित और आत्मीक शुद्ध भावों से भ्रष्ट ऐसे कईएक पुरुष कहते हैं कि यह काल ध्यान करने योग्य नहीं हैं।

सम्मत्त णाणरहिओ अभव्वजीवोहि मोक्खपरिमुक्को।
संसारसुहेसुरदो णंहु कालो हवइ झाणस ॥ ७४ ॥

सम्यक्त्वज्ञान रहितः अभव्यजीवोहि मोक्षपरिमुक्तः
संसारसुखेसुरतः नहि कालो भवति ध्यानस्य ॥

अर्थ—सम्यक्त और ज्ञान कर रहित अभव्यजीवात्मा मोक्ष रहित संसार के सुख में अत्यन्त प्रीतिवान हैं ऐसे पुरुष कहते हैं कि यह ध्यान का काल नहीं है ॥

पंचसु महव्वदेसुय पंचसमिदीसु तीसुगुत्तीसु ।
जो मूढो अराणाणी णहु कालो भणइ झाणस्स ॥ ७५ ॥

पञ्चसु महाव्रतेषु च पञ्चसमितिषु तिसृषु गुप्तिषुः
यो मूढः अज्ञानी नहि कालो भणाति ध्यानस्य ॥

अर्थ—जो पांच महाव्रत पांच समिति तीन गुप्ति से अनजान है वह ऐसा कहते हैं कि यह काल ध्यान का नहीं है ।

भरहे दुक्खमकाले धम्म ज्झाणं हवेइ साहुस्स ।
तं अप्प सहावठिदे णहु मण्णइ सोवि अण्णाणी ॥ ७६ ॥

भरते दुःखम काले धर्मध्यानं भवति साधोः
तद् आत्मस्वभावस्थिते नहिं मन्यते सोपि अज्ञानी ॥

अर्थ—इस पंचम काल में भारत वर्ष में आत्मस्वभाव में स्थित जो साधु हैं तिनके धर्म ध्यान होता है जो इसको नहीं मानते हैं सो अज्ञानी हैं ।

अज्जवितिरयणसुद्धा अप्पा झाएवि लहहि इंदत्तं ।
लोयंतियदेवत्तं तच्छ चुया णिव्वुदिं जंति ॥ ७७ ॥

अद्यापि त्रिरत्नशुद्धा आत्मानंध्यात्वा लभन्ते इंद्रत्वम्
लोकान्तिक देवत्वं तस्मात् च्युत्वा निर्वाणं यान्ति ॥

अर्थ—अब भी इस पंचम काल में साधुजन सम्यक् दर्शन सम्यगज्ञान सम्यकचारित्र रूप रत्नों से निर्दोष होते हुवे आत्मा को ध्याय कर इन्द्रपद को पावें हैं केई लौकान्तिक देव होते हैं और वहां से चय कर पुनः निर्वाण को पावे हैं ॥

जेपावमोहियमई लिंगं घेत्तूण जिणवरिंदाणं।
पावं कुणंति पावा ते चत्ता मोक्खमग्गम्मि ॥ ७८ ॥

ये पापमोहितमतयः लिङ्गं ग्रहीत्वा जिनवरन्द्रोणाम्ः
पापं कुर्वन्ति पापाः ते त्यक्ता मोक्षमार्गे ॥

अर्थ—पाप कार्यों कर मोहित है बुद्धि जिनकी ऐसे जे पुरुष जिनलिंङ्ग (नग्नमुद्रा) को धारण करके भी पाप करते हैं ते पापी मोक्ष मार्ग से पतित हैं।

जे पंचचेलसत्ता गंथगाहीय जाणंसीला।
आधाकम्मम्मिरया ते चत्ता मोक्ख मग्गम्मि ॥ ७९ ॥

ये पञ्चचेलशक्ताः ग्रन्थ ग्राहिणः याचनशीलाः
अधः कर्मणिरताः ते त्यक्ता मोक्षमार्गे ॥

अर्थ—जे पांच प्रकार में से किसी प्रकार के भी वस्त्रों में आसक्त हैं अर्थात् रेशम वक्कल चर्म रोम सूत के वस्त्र को पहनते हैं परिग्रह सहित हैं, याचना करने वाले हैं अर्थात् भोजन आदिक मांगते हैं और नीचकार्य में तत्पर हैं वे मोक्ष मार्ग से भ्रष्ट हैं।

णिग्गंथमोहमुक्का वावीसपरीसहा जियकसाया।
पावारंभ विमुक्का ते गहियामोक्खमग्गम्मि ॥ ८० ॥

निर्ग्रन्था मोहमुक्ता द्वाविंशतिपरीषहा जितकषायाः।
पापारम्भ विमुक्ता ते गृहीता मोक्षमार्गे ॥

अर्थ—जे परिग्रह रहित हैं पुत्र मित्र कलित्रादिको से मोह (ममत्व) रहित हैं वाईस परीषहाओं को सहने वाले हैं जीत लिये हैं कषाय जिन्होंने और पापकारी आरम्भों से रहित हैं वे मोक्षमार्ग में गृहीत हैं अर्थात वे मोक्षमार्गी हैं।

ऊद्धद्धमज्झलोए केई मज्झण अहयमेगगी।
इय भावणाए जोई पावंतिहु सासयं सोक्खं ॥ ८१ ॥

उर्ध्वाधमध्य लोके केचित् मम न अहकमेकाकी।
इति भावनया योगिनः प्राप्नुवन्ति स्फुटं शाश्वतं सौख्यम्।

अर्थ—जे योगीश्वर ऐसी भावना कि मेरा उर्ध्वलोक अधो-लोक तथा मध्यलोक में कोई भी नहीं है मैं अकेलाही हूं वह शास्वत सुख अर्थात मोक्ष को पावें हैं—

देवगुरूणं भत्ता णिव्वेय परंपरा विचिंतंता ।
झाणरया सुचरित्ता ते गहिया मोक्खमग्गम्मि ॥ ८२ ॥

देवगुरूणां भक्ताः निर्वेद परम्परा विचिन्तयन्तः ।
ध्यानरता सुचरित्राः ते गृहीता मोक्षमार्गे ॥

अर्थ—जे अष्टादश १८ दोष रहित गुरु और २८ मूलगुण धारक गुरु के भक्त हैं निर्वेद (संसार देह भोगों से विरागता) की परम्परा रूप उपदेश की विशेषता से विचारते हैं, ध्यान में तत्पर हैं और उत्तम चारित्र के धारक हैं ते मोक्षमार्गी हैं ।

णिच्छय णयस्स एवं अप्पा अप्पम्मि अप्पणेसुरदो ।
सो होदिहु सुचरित्तो जोई सो लहइणिव्वाणं ॥ ८३ ॥

निश्चयनयस्यैवम् आत्माऽऽत्मनि आत्मनेसुरतः ।
सो भवति स्फुट सुचरित्रः योगी सो लभते निर्वाणम् ॥

अर्थ—निश्चयनयका ऐसा अभिप्राय है कि जो आत्मा आत्मा के लिये आत्मा में ही लीन होता है वही आत्मा उत्तम चारित्रवान् योगी निर्वाण को पावे है ।

पुरुसायारो अप्पा जोई वरणाणदंसण समग्गो ।
जो झायदि सोयोई पावहरो हवदिणिद्दो ॥ ८४ ॥

पुरुषाकार आत्मा योगी वरज्ञानदर्शन समग्रः ।
योध्यायति स योगी पापहरो भवति निर्द्वन्द्वः ॥

अर्थ—पुरुष के आकार के समान है आकार जिसका ऐसा आत्मा उत्तम ज्ञान दर्शन कर पूर्ण और मन वचन, काय के योगों का निरोध करने वाला जो आत्मा को ध्यावे है वह योगी है पापों का नाश करने वाला है और निर्द्वन्द (रागद्वेषादि रहित) होजाता है ।

एवं जिणेण कहियं सवणाणं सावयाणपुणसुणसु ।
संसार विणासयरं सिद्धियरं कारणं परमं ॥ ८५ ॥

एवं जिनेन कथितं श्रमणानां श्रावकानां पुनः शृणु ।
संसार विनाशकरं सिद्धिकरं कारणं परमम् ॥

अर्थ—इस प्रकार जिनेन्द्र देवने मुनियों को उपदेश कहा है अब श्रावकों के लिये कहते हैं सो सुनो यह उपदेश संसार का नाश करने वाला और सिद्धि के करने वाला उत्कृष्ट कारण है ।

गहिऊणय सम्मत्तं सुणिम्मलं सुरगिरीव निक्कंपं ।
तं झाणे झाइज्जइ सावय दुक्खक्खय ट्ठाए ॥ ८६ ॥

ग्रहीत्वा च सम्यक्त्वं सुनिर्मलं सुरगिरेरिव निष्कम्यम् ।
तद् ध्याने ध्यायति श्रावक दुःखक्षयार्थे ॥

अर्थ—भो श्रावको ! सुमेरु पर्वत के समान निष्कम्प (निश्चल) होकर निरतीचार सम्यग्दर्शन का ग्रहण कर उसी दर्शन को दुःखों का क्षय करने वाले ध्यान में ध्यावो ।

सम्मत्तं जो झायदि सम्माइट्ठी हवेइ सो जीवो ।
सम्मत्त परिणदो पुण खवेइ दुट्ठट्ठ कम्माणि ॥ ८७ ॥

सम्क्त्वं यो ध्यायति सम्यग्दृष्टिः भवति स जविः ।
सम्यक्त्व परिणतः पुनः क्षयति दुष्टाष्टकर्माणि ॥

अर्थ—जो जीव सम्यक्त्व को ध्यावे है सोई जीव सम्यग्दृष्टि है और वही (जीव) सम्यग्दर्शन रूप परणमता हुवा दुष्ट जे ज्ञानावरणादिक अष्टकर्म तिन का नाश करै है ।

किं वहुणा भणिएण जे सिद्धाणरवरा गए काले ।
सिज्झहि जेवि भविया तं जाणह सम्ममाहाप्पं ॥८८॥

किं वहुना भणितेन ये सिद्धा नर वरागते काले ।
सेत्स्यति येऽपि भव्याः तज्जानीत सम्यक्त्व माहात्म्यम् ॥

अर्थ—बहुत कहने कर क्या जे (जितना) भव्य पुरुष अतीत

काल में सिद्ध हुवे हैं और जे आगामि काल में सिद्ध होवेंगे वह सर्व सम्यक्त्व का महत्व जानो।

भावार्थ—सम्यग्दर्शन मोक्ष का प्रधान कारण है, वह सम्यग्दर्शन गृहस्थ श्रावाकों में भी होता है इससे गृहस्थ धर्म भी मोक्ष का कारण जानो।

ते धण्णा सुकयच्छा तेसूरा तोवि पंडिया मणुया।
सम्मत्तं सिद्धियरं सिवणेवि ण मइलियं जेहि ॥८९॥

ते धन्याः सुकृतस्थाः ते शूरा तेपि पण्डिता मनुजाः।
सम्यक्त्वं सिद्धिकरं स्वप्नेपि न मलितं यैः॥

अर्थ—ते ही पुरुष धन्य हैं तेही पुण्यवान हैं तेही सूरिमा हैं और पण्डित हैं जिन्होंने स्वप्न में भी सर्व सिद्धि करने वाले सम्यक्त्व को दूषित नहीं किया है।

हिंसा रहिए धम्मे अट्ठारसदोस वज्जिए देवे।
णिग्गंथेप्पवयणे सद्दहणं होदि सम्मत्तं ॥९०॥

हिंसारहिते धर्मे अष्टादश दोष वर्जिते देवे।
निर्ग्रन्थे प्रवचने श्रद्धनं भवति सम्यक्त्वम्॥

अर्थ—हिंसा रहित धर्म, क्षुधादिक अठारह दोष रहित देव और निर्ग्रन्थ अर्थात् दिगम्बर मुनि और प्रवचन अर्थात् जिनवाणी में श्रद्धान करना सम्यग्दर्शन है

जह जायरूव रुवं सुसंजयं सव्व संगपरिचत्तं।
लिंगं ण वरा वेक्खं जो मण्णइ तस्स सम्मत्तं ॥९१॥

यथा जातरूपं रुपं सुसंयतं सर्व संग परित्यक्तम्।
लिङ्गं न परापेक्षं यःमन्यते तस्य सम्यक्त्वम्॥

अर्थ—मोक्ष मार्गी साधुवों का लिङ्ग (भेश) यथा जातरुप है अर्थात् जैसे बालक माता के गर्भ से निकला हुआ बालक निर्विकार होता है तैसे निर्विकार है। उत्तम है संयम जिसमें, समस्त परिग्रह रहित है, जिसमें पर वस्तु की इच्छा नहीं हैं ऐसे स्वरुप को जो माने है तिसके सम्यक्त्व होता है।

कुच्छियदेवं धम्मं कुच्छिय लिंगंच वंदए जोदु ।
लज्जा भयगारवदो मिच्छादिट्ठी हवे सोहु ॥९२॥

कुत्सितदेव धर्मं कुत्सितलिङ्गं च वन्दते यस्तु ।
लज्जा भय गारवतः मिथ्यादृष्टि भवेत् सस्फुटम् ॥

अर्थ—खोटेदेव (रागीद्वेषी) खोटा धर्म (हिंसामयी) और खोटे लिङ्ग (परिग्रही गुरु) को लज्जा कर भयकर अथवा बड़प्पन कर जो वन्दे हैं नमस्कार करें हैं ते मिथ्यादृष्टि जानने ।

सवरावेक्खं लिंगं राईदेवं असंजयं वंदे ।
माणइ मिच्छादिट्ठी णहुमाणइ सुद्ध सम्मत्तो ॥९३॥

स्वपरापेक्षं लिङ्गं रागिदेवम् असंयतं वन्दे ।
मानयति मिथ्यादृष्टिः न स्फुटं मानयति शुद्धसम्यक्त्वः ॥

अर्थ—स्वापेक्ष लिङ्ग को (अपने प्रयोजन की सिद्धि के अर्थ अथवा स्त्री सहित होकर साधु वेश धारण करने वाले को) और परापेक्षलिङ्ग (जो किसी की ज़बरदस्ती से वा माता पितादि के चढ़ाने से वा राजा के भय से साधु हो जावे) को मैं वन्दना करता हूँ तथा रागीदेवों को मैं वन्दू हूं अथवा समय रहित (हिंसक) देवताओं) को वन्दना करु हूं ऐसा कहकर तिन को माने है सो मिथ्यादृष्टि है । जो ऐसे को नहीं मानता है वह शुद्ध सम्यग्दृष्टी है ॥

सम्माइट्टीसावय धम्मं जिणदेव देसियं कुणदि ।
विपरीयं कुव्वंतो मिच्छादिट्ठी मुणेयव्वो ॥९४॥

सम्यग्दृष्टिः श्रावकः धर्मं जिनदेवदेशितं करोति ।
विपरीतं कुर्वन् मिथ्यादृष्टिः ज्ञातव्यः ॥

अर्थ—भो श्रावको ! जो जिनेन्द्र देव के उपदेशे हुवे धर्मको पालता है वह सम्यग्दृष्टि है और जो अन्य धर्म्म को पालता है सो मिथ्या दृष्टी जानना ।

मिच्छादिट्ठी जो सो संसारे संसरेइ सुहरहिओ ।
जम्मजर मरणपउरे दुक्खसहस्साउले जीवो ॥९५॥

मिथ्यादृष्टिः यः स संसारे संसरति सुखरहितः।
जन्मजरामरण प्रचुरे दुःखसहस्राकुले जीवः॥

अर्थ--जो मिथ्या दृष्टि प्राणी हैं वह जन्म जरा और मरण की अधिकता वाले इस चतुर्गति रूप संसार में सुखराहित भ्रमे हैं और वह संसार हज़ारों दुःख से परिपूर्ण है।

सम्मगुण मिच्छ दोसो मणेण परि भाविऊण तं कुणसु।
जं ते मणस्स रुचइकिं वहुणा पलवि एणंतु॥९६॥

सम्यक्त्वं गुणः मिथ्यात्वं दोषः मनसा परिभाव्य तत्कुरु।
यत्ते मनसि रोचते किं वहुना प्रलपितेन तु॥

अर्थ—भो भव्य! सम्यग्दर्शन तो गुण अर्थात् उपकारी है और मिथ्यात्व दोष है, ऐसा विचार करो पीछे जो तुम्हारे मन में रुचे तिसको ग्रहण करो बहुत बोलने से क्या।

वाहिर संग विमुको णविमुको मिच्छभाव णिग्गंथो।
किं तस्स ठाण मौणं णवि जाणदि अप्प सम भावं॥९७॥

वाह्य संग विमुक्तः न विमुक्तः मिथ्या भावेन निर्ग्रन्थः।
किं तस्य स्थानं मौनं नापि जानाति आत्मसम भावम्॥

अर्थ—जो वाह्य परिग्रह से रहित है परन्तु मिथ्यात्व भावों से नहीं छूटा है उस निर्ग्रन्थ वेषधारी के कायोत्सर्ग और मौन व्रत करने से क्या साध्य है अर्थात् कुछ भी नहीं वह आत्मा के समभाव को (वीतराग भाव को) नहीं जाने है।

भावार्थ—विना अन्तरङ्ग सम्यक्त्व कोई भी वाह्य क्रिया कार्य कारी नहीं।

मूल गुणं छितूणय वाहिर कम्मं करेइ जो साहु।
सोणलहइ सिद्धसुहं, जिण लिंग विराधगो णिच्चं॥९८॥

मूलगुणं छित्वा वाह्य कर्म करोति यः साधुः।
स न लभते सिद्धिसुखं जिनलिङ्ग विराधकः नित्यम्॥

अर्थ—जो साधु अट्ठाईस मूल गुणों का छेदन करके अन्य बाह्य कर्म करे हैं सो सिद्धसुख को नहीं पावे हैं किंतु वह सदाकाल जिनलिङ्ग की विराधना अर्थात् बदनामी करने वाला है।

किं कहादि वहिकम्मं किं काहदि बहुविहंच खवणंच।
किं काहिदि आदावं आद सहावस्स विवरीदो ॥९९॥

किं करिष्यति वाह्यकर्म किं करिष्यति बहुविधं च क्षपणंच।
किं करिष्यति आतापः आत्मस्वभावस्य विपरीतः॥

अर्थ—आत्मीक स्वभाव दर्शन ज्ञान क्षमादि स्वरूप से विपरीत अज्ञान मोह कषादि सहित बाह्य कर्म क्या कुछ कर सके हैं? (मोक्ष दे सके है?) अर्थात् नहीं, और बहुत प्रकार किये हुवे क्षपण (उपवास) कुछ कर सके हैं? तथा आतापन योग (धूप में कायोत्सर्ग करना) भी कुछ कर सके हैं? अर्थात कुछ नहीं। भावार्थ केवल शारीरक क्रिया मात्र आत्मा को निराकुल सुख नहीं कर सके हैं।

जइ पठइ सुदाणिय जदि काहदि बहुविहेय चरित्तो।
तं वालसुयं चरणं हवेइ अप्पस्स विवरीयं ॥१००॥

यदि पठति श्रुतानि च यदि करिष्यति बहुविधानिचारित्राणि।
तद्वालश्रुतं चरणं भवति आत्मनः विपरीतम्॥

अर्थ—जो आत्म स्वभाव से विपरीत बाह्य अनेक तर्क व्याकरण छन्द अलंकार साहित्य सिद्धान्त तथा एकादशाङ्ग दशपूर्व का अध्ययन करना है सो बालश्रुत है, तथा आत्मीक स्वरूप विरुद्ध अनेक चारित्र करना बाल चारित्र है।

वेरग्गपरोसाहू परदव्वपरमुहोय सो होई।
संसारसुहविरत्तो सगसुद्धसुहेसु अणुरत्तो ॥ १०१ ॥
गुणगणविहूसियंगो हेयोपादेयणिच्छदो साहू।
झाणज्झयणेसुरदो सो पावई उत्तमठाणं ॥१०२॥

वैराग्यपरः साधुः परद्रव्यपराङ्मुखश्च स भवति।
संसारसुखविरक्तः स्वकशुद्धसुखेषु अनुरक्तः ॥१०१॥

गुणगणविभूषताङ्गः हेयोपादेय निश्चिनः साधुः ।
ध्यानाध्ययनेषु रत्तः स प्राप्नोति उत्तम स्थानम् ॥

अर्थ—जो साधु विराग भावों में तत्पर है वही परपदार्थों से पराङ्मुख (ममत्वरहित) है और संसारीकसुखों से विरक्त है, आत्मीकशुद्ध सुखों में अनुरागी है ज्ञानध्यानादि गुणों के समूह कर भूषित है शरीर जिसका, हेय (त्यागने योग्य) उपादेय (ग्रहण करण योग्य) का है निश्चय जिसके तथा ध्यान (धर्म्म ध्यान शुक्ल ध्यान) अध्ययन (शास्त्रों का पठन पाठन) में लीन है सोही साधु उत्तमस्थान को (मोक्ष को) पावे है

णविएहि जं णविज्जइ झाइझइ झाइएहि अणवरयं ।
थुवंतेहिं थुणिज्जइ देहच्छ किंपितंमुणह ॥ १०३ ॥

नतैः यत् नम्यते ध्यायते ध्यातैः अनवरतम् ।
स्तयमानैः स्तूयते देहस्थं किमपि तत् मनुत ॥

अर्थ—भो भव्यजनो ? तुमारे इस देह में कोई अपूर्व स्वरुपवाला तिष्टे है तिसको जानो जोकि अन्यपुरुषों कर नमस्कृति किये हुवे ऐसे देवेन्द्र नरेन्द्र गणेन्द्रों कर नमस्कार किया जाता है, तथा अन्य योगियों कर ध्याये हुये एसे तीर्थंकर देवों कर निरंतर ध्याया जाता है और अन्य ज्ञानियोंकर स्तुति किये हुवे परमपुरुषोंकर (तीर्थंकरादिकोंकर) स्तुति किया जाता है ।

अरुहा सिद्धा आरिया उवझाया साहु पंचपरमेट्ठी ।
तेविहु चिट्टइ आदे तम्हा आदाहु में सरणं ॥ १०४ ॥

अर्हन्तः सिद्धा आचार्या उपाध्याया साधवः परमेष्ठिनः ।
तेऽपि स्फुटं तिष्ठन्ति आत्मनि तस्मादात्मा स्फुटि में शरणम्

अर्थ—अर्हन्त सिद्ध आचार्य उपाध्याय और साधु ये परमेष्ठी हैं तेही मेरे आत्मा में तिष्टे हैं इससे आत्माही मुझे शरण है ॥ (भावार्थ) यह परमेष्ठी आत्मा में तबही ठहर सकते है जब कि उनका स्वरुप चिन्तन कर आत्मा में ज्ञेयाकार वा ध्येयाकार किया होय

इससे परमेष्ठी को नमस्कार किया जानना। और आगम भाव निक्षेपकर जब आत्मा जिसका ज्ञाता होता है तब वह उसी स्वरूप कहलाता है। इससे अर्हन्तादिक के स्वरुप को ज्ञेय रुप करने वाला जीवात्मा भी अर्हन्तादि स्वरुप हो जाता है। और जब यह निरन्तर ऐसाही बना रहे है तब समस्त कर्मक्षय रूप शुद्ध अवस्था (मुक्त) हो जाती है॥ जो समस्त जीवोंको संबोधन करने में समर्थ है सो अर्हन है आर्थात् जिसके ज्ञान दर्शन सुख वीर्य परिपूर्ण निरावरण होजाते हैं सोही अर्हन्त हैं। सर्व कर्मों के क्षय होने से जो मोक्ष प्राप्त होगया हो सो सिद्ध हैं। शिक्षा देनेवाले और पांच आचारों को धारण करने वाले आचार्य है। श्रुतज्ञानोपदेशक हो तथा स्वपरमत का ज्ञाता हो सो उपाध्याय हैं। रत्नत्रय का साधन करें सो साधु हैं।

संमत्तं संणाणं सच्चारित्तं हिसत्तवं चैव।
चउरो चिट्ठइ आदे तह्मा आदा हुमेसरणं॥ १०५

सम्यक्त्वं सज्ज्ञानं सचारित्रं हि सत्तपश्चैव।
चत्वारो तिष्ठति आत्मनि तस्मारात्मास्फुटं में शरणम्॥

अर्थ--सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान सम्यकचारित्र और सम्यकतप-यह चारों आत्मा में ही तिष्ठे हैं तिससे आत्माही मेरे शरण है। भावार्थ। दर्शन ज्ञान चरित्र और तप ये चारों आराधना मुझे शरण हो! आत्मा का श्रद्धान आत्माही करे हैं आत्मा का ज्ञान आत्मा ही करे है आत्मा के साथ एकमेक भाव आत्माकाही होता है और आत्मा आत्मा में ही तपे है वही केवल ज्ञानेश्वर्य को पावे है ऐसे चारों प्रकार कर आत्मा कोही ध्यावे इससे आत्माही मेरा दुःख दूर करने वाला है आत्माही मंगल रूप है॥

एवं जिणं पणत्तं मोक्खस्यय पाहुंड सुभत्तीए।
जो पढइ सुणइ भावइ सो पावइ सासयं सोक्खं॥ १०६

एवं जिन प्रज्ञप्तं मोक्षस्यच प्राभृत सुभक्त्या।
य पठति श्रणोति भावयति स प्राप्नोति शास्वत्तं सौख्यम्॥

अर्थ--इस प्रकार कहे हुवे मोक्ष प्राभृत को जो उत्तम भक्तिकर पढ़े है श्रवण करे है भावना (बार बार मनन) करे है सो अविनश्वर सुख को पावे है।

॥ इति श्रीकुन्दकुन्दस्वामिविरचितं मोक्षप्राभृतं समाप्तम् ॥

॥ समाप्तं च षट्प्राभृतम ॥

